प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल
नई दिल्ली

तीसरी बार : १९५२

मूल्य
एक रुपया दो आना

मुद्रक
न्यू इण्डिया प्रेस
नई दिल्ली

प्रस्तावना

'सर्वोदय' शब्द अब तो चल पड़ा है। हर कोई उसकी दुहाई दे रहा है। लोग कहते हैं, "इस शब्द का बहुत दुरुपयोग भी हो रहा है।" लेकिन मुझे इसका कोई डर नहीं है, बशर्ते कि चन्द लोग भी उसको सही मानेंगे, अपने जीवन में लाने की कोशिश करेंगे। अपरोक्ष अनुभूति से निकले हुए शब्द इतने महान् होते हैं कि लोगों की ओर से उनका कितना भी दुरुपयोग क्यों न किया जाय, वे उस सबको हजम कर लेते हैं। वैसा ही, मुझे विश्वास है कि, यह सर्वोदय शब्द सब मलिनताओं को खाक करके अपने स्वच्छ अर्थ में प्रकाशित रहेगा। क्योंकि वह ऋषि-दृष्ट है, आत्मानुभूति से निकला हुआ है।

मेरे लिए तो यह शब्द राम-नाम जैसा ही हो गया है। इसलिए करते और बोलते, बैठते, चलते और फिरते, उसीकी धुन में रहता हूं। गए साल-डेढ़ साल में जगह-जगह इस बारे में सहज-भाव से मेरी जो चर्चाएं या भाषण हुए, उनमें से साररूपेण कुछ इस पुस्तक में दिये हैं। मुझे उम्मीद है कि उससे सर्वोदय-रस के सेवन की दिलचस्पी लोगों में बढ़ेगी और काम में कुछ मदद पहुँचेगी।

सुरगांव (वर्धा)
२८ मार्च, ५०

—विनोबा

विषय-सूची

सर्वोदय-विचार

: १ :

सर्वोदय की विचार-सरणी

एक साल पहले इसी दिन और ठीक इसी समय वह घटना घटी कि जिसके कारण हम सबको हमेशा के लिए शरमिंदा होना पड़ेगा। लेकिन वह घटना ऐसी भी है कि जिससे हमें चिरंतन प्रकाश मिल सकता है। उस घटना ने हमें देह और आत्मा का पृथक्करण अच्छी तरह सिखा दिया है। मुझसे बहुत लोगों ने पूछा कि गांधीजी ईश्वर के निःसीम उपासक थे तो ईश्वर ने उनकी रक्षा क्यों नहीं की? ईश्वर ने उनकी जो रक्षा की, उससे अधिक रक्षा और हो भी क्या सकती थी? देहासक्ति के कारण हम उसे न पहचानें, यह दूसरी बात है। मुझे यहां कुरान का एक वचन याद आता है, जिसमें कहा गया है कि जो ईश्वर की राह पर चलते हुए कतल किये जाते हैं, मत समझो कि वे मरे हैं। वे तो ज़िंदा हैं, यद्यपि तुम देखते नहीं।

"ला तक़ूलु लि मंय् युक्तल
फी सबीलिल्लाहि अम्वात्, बल् अहयाऊं
वलाकिल् ला तश् उरून्"

ईश्वर की राह पर चलते हुए मरना भी ज़िन्दगी है और शैतान की राह पर ज़िन्दा रहना भी मौत है। गांधीजी ने ईश्वर की राह पर, सचाई और भलाई की राह पर, चलने की निरन्तर कोशिश की, उसीकी हिदायत वह लोगों को देते रहे, उसीके लिए वह कतल किये गए। धन्य है उनका जीवन और धन्य है उनकी मृत्यु।

भलाई की राह पर चलने की शिक्षा अनेक सत्पुरुषों ने दी है; लेकिन मानव को अभी पूरा यकीन नहीं हुआ है कि भलाई से भला होता ही है। वह अभी तक प्रयोग कर रहा है। देखता है कि क्या बुराई बोने से भी भला नहीं उग सकता? बबूल बोने से आम और आम बोने से बबूल उगेगा, ऐसी शंका तो उसके मन में नहीं आती है। शायद पहले के जमाने में यह शंका भी उसको रही होगी, लेकिन अब तो भौतिक सृष्टि में 'यथा बीज तथा फल' वाला न्याय उसको जंच गया है, फिर भी नैतिक सृष्टि में उस न्याय के विषय में उसे शंका है। साधारण तौर पर भलाई से भला होता है, यह उसने पाया है। लेकिन खालिस भलाई लाभदायी हो सकती है, ऐसा निर्णय अभी उसके पास नहीं है।

दूसरे कुछ लोगों को खालिस भलाई मंजूर है, लेकिन निजी जीवन में। व्यक्तिगत जीवन में शुद्ध नीति बरतनी चाहिए, उससे मोक्ष तक पा सकते हैं; लेकिन सामाजिक जीवन में भलाई के साथ बुराई का कुछ मिश्रण किये बिना नहीं चलेगा, ऐसा उनका खयाल है। सत्य और असत्य के मिश्रण पर दुनिया टिकती है,

ऐसा यह विचार है। गांधीजी ने इसको कभी नहीं माना और सत्य, अहिंसा आदि मूलभूत सिद्धांतों का अमल सामाजिक तौर पर हमसे करवाया, जिसके फलस्वरूप एक किस्म का स्वराज्य भी हमने पाया है। जिस योग्यता का हमारा अमल था उस योग्यता का हमारा यह स्वराज्य है। उसके लिए वे सिद्धान्त जिम्मेदार नहीं हैं, हमारा अमल जिम्मेदार है। एक त्रिकोण में जो सिद्धान्त साबित होता है वह सब त्रिकोणों को लागू होता है। व्यक्ति के लिए अगर शुद्ध नीति कल्याणकारी है तो समाज के लिए भी वह वैसी ही कल्याणकारी होनी चाहिए।

कुछ लोगों का खयाल है कि सत्य की कसौटी पर अपने उद्देश्यों को कस लें तो बस है। फिर साधन कैसे भी हों, चल जायंगे। लेकिन गांधीजी ने इस विचार का हमेशा विरोध किया है। उन्होंने तो यहांतक कह दिया था कि मैं सत्य के लिए स्वराज्य भी छोड़ने को तैयार होऊंगा। मतलब उनका यह नहीं था कि वह स्वराज्य नहीं चाहते थे, या उसकी कीमत कम समझते थे। वह तो साधन-शुद्धि का महत्त्व बताना चाहते थे। स्वराज्य के लिए वह जिन्दगी भर लड़े। लेकिन वह कहते थे कि स्वराज्य तो सत्यमय साधनों से ही मिल सकता है। शुद्ध साधनों से प्राप्त किया हुआ स्वराज्य ही सच्चा स्वराज्य होगा। साधक को साध्य की अपेक्षा साधन के बारे में ही अधिक सोचना चाहिए। साधन की जहां पराकाष्ठा होती है, वहीं साध्य का दर्शन होता है। इसलिए साध्य और साधन का भेद भी काल्पनिक है।

साधनों से साध्य हासिल होता है इतना ही नहीं, बल्कि उसका रूप भी साधनों पर निर्भर रहता है। वैसे, हरेक को अपना उद्देश्य या मकसद अच्छा ही लगता है। इसलिए अच्छे मकसद का दावा कोई खास कीमत नहीं रखता। साध्य-साधनों में विसंगति नहीं होनी चाहिए, यह विचार वैसे नया नहीं है। लेकिन उसका प्रयोग जिस बड़े पैमाने पर गांधीजी ने हिन्दुस्तान में किया, वह बेमिसाल है।

दूसरे कुछ लोग कहते हैं कि सचाई और भलाई का आग्रह तो अच्छा है, लेकिन हर हालत में क्रियाशील रहने का महत्त्व अधिक है। अगर भलाई रखने के प्रयत्न में क्रियाशीलता में बाधा आती है तो भलाई का आग्रह कुछ ढीला करके, या उस आदर्श से कुछ नीचे उतर के, क्रियाशील रहना चाहिए, निष्क्रिय हरगिज नहीं बनना चाहिए। मैं मानता हूँ कि यह भी एक मोह है। जेल में जब लोगों को अधिक दिन तक रहना पड़ता था, तो उसको 'जेल में सड़ना' नाम दिया जाता था। तब गांधीजी समझाते थे कि शुद्ध पुरुष की निष्क्रियता में भी महान् शक्ति होती है। गीता ने अपनी अनुपम भाषा में इसीको अकर्म में कर्म कहा है। क्रियाशीलता निःसंशय महान् है। लेकिन सचाई और भलाई उससे भी बढ़कर है। विशेष परिस्थिति में निष्क्रिय भी रह सकते हैं; लेकिन सचाई को कभी छोड़ नहीं सकते।

कुछ लोग, जो अपने को व्यवहारवादी कहते हैं, सचाई पसन्द करते हैं; लेकिन एकपक्षी सचाई में खतरा देखते हैं। कहते हैं कि सामनेवाला अगर असत्य का उपयोग करता है,

हिंसा करता है, तो हम ही सत्य और अहिंसा पर डटे रहेंगे तो हमारा नुकसान होगा। यह लोग वास्तव में सचाई का मूल्य ही नहीं जानते। अगर जानते होते तो ऐसी दलील नहीं करते। हमारे प्रतिपक्षी भूखे रहते हैं तो हम ही क्यों खायं, ऐसी दलील वे नहीं करते हैं। जानते हैं कि जो खायगा, वह ताकत पायगा। इसका प्रतिपक्षी से कोई सम्बन्ध नहीं है। एकपक्षी खाना तो मंजूर है; लेकिन एकपक्षी सचाई, प्रीति, मंजूर नहीं है। इसका क्या अर्थ है? सामनेवाला जैसा होगा वैसे हम बनेंगे, इसका मतलब यही हुआ कि वह जैसा हमें नचायेगा वैसे हम नाचेंगे। आरम्भ शक्ति या पहल (इनीशिएटिव) हमने उसके हाथ में सौंप दी। यह पुरुषार्थहीन विचार है और उससे एक दुष्ट-चक्र तैयार होता है। दुर्जनता का एक सिलसिला जारी है। उसको तोड़ना है तो हिम्मत करनी चाहिए। और निष्ठापूर्वक, परिणाम का हिसाब लगाये बगैर, प्रेम करना चाहिए, उदारता रखनी चाहिए। आखिर सत्य, प्रेम और सज्जनता ही भावरूप चीजें हैं। असत्यादि अभावरूप हैं। प्रकाश और अंधकार का यह झगड़ा है, उसमें प्रकाश को डर कैसा?

यह है सत्याग्रह की विचार-सरणी, जैसा कि मैं समझा हूं। इसीमें सबका भला है, इसलिए इसको सर्वोदय की विचार-सरणी भी कहते हैं। गांधीजी की हत्या हमारे लिए एक चुनौती है। अगर सचाई में हमारी परमनिष्ठा है, उसका अमल हमारे निजी और सामाजिक जीवन में करने की वृत्ति हम रखते हैं, तभी इस चुनौती को हम स्वीकार कर सकते हैं, नहीं तो हम उस

चुनौती को स्वीकार नहीं कर सकते। इतना ही नहीं, बल्कि इच्छा न रखते हुए हम उस हत्याकारी के पक्ष में ही दाखिल हो जाते हैं।

मैं आशा करता हूं कि गांधीजी की देहमुक्ति हममें शक्ति-संचार करेगी और हम सत्यनिष्ठ जीवन जी कर सर्वोदय की तैयारी के अधिकारी बनेंगे।

गांधीजी के प्रथम वर्षश्राद्ध के
दिन राजघाट (दिल्ली) पर दिया
लिखित भाषण। ३० जनवरी, १९४९.

: २ :

विचार के लिए चार प्रश्न

आज मुझे यहां बोलना होगा, यह तो अभी ही मुझे मालूम हुआ है। किशोरलालभाई के बदले मुझे बोलने के लिए कहा गया है। किशोरलालभाई का आप लोगों से परिचय है। वह 'गांधी सेवा-संघ' के पांच साल तक अध्यक्ष रहे हैं। उनके लिए यह काम आसान था। मेरी दशा इससे उल्टी है। यद्यपि मैं गांधीजी के पास रहा हूं, तो भी उनका पाला हुआ एक जंगली जानवर हूं। आपसे निजी तौर पर कम-से-कम परिचित कोई था, तो मैं था। गांधी-सेवा-संघ का मेम्बर बनने के लिए दो-तीन दफा मुझे सूचित किया गया; लेकिन मैंने स्वीकार नहीं किया। उसके कारणों में मैं नहीं उतरता।

आपमें से बहुतों के चेहरे मेरे लिए नये हैं। यहां आप लोगों के लिए जो कोठरियां बनी हैं, उनके दरवाजे पर अन्दर रहनेवालों के नाम लिखे हैं। एक दिन शाम को उनको पढ़ता हुआ जा रहा था। एक भाई ने पूछा, "नाम तो आप पढ़ते जा रहे हैं; लेकिन अंदर बैठे हुए लोगों के रूप से क्या आप ताल्लुक

नहीं रखते ?" मैंने विनोद में कहा, "रूप से नाम बड़ा है। जब नाम ही मैं कम जानता हूं तो फिर रूप क्या जानूं ?"

लेकिन मेरे अपरिचय की परसों तो हद हो गई। रात को तीन बजे अकेला उठकर आश्रम की प्रार्थना में शरीक होने के लिए निकला। रास्ते में अंधेरा छाया हुआ था, जो मेरा एकमात्र साथी था। बीच में एक कुत्ते ने आवाज दी, शायद अपने मालिक को जाग्रत करने के लिए। मैं चुपचाप आश्रम में पहुँचकर प्रार्थना की जगह बैठ गया। बाद में प्रार्थना के लिए लोग आ गए। उन्होंने मुझे देख लिया और मैं ही प्रार्थना चलाऊं, ऐसा मुझसे कहा। मैंने कहा, "मैं आपकी प्रार्थना सुनूंगा।" इसका कारण यह था कि सेवाग्राम-आश्रम की प्रार्थना का सिलसिला मैं नहीं जानता था। मैंने अपने मन में कहा, "अब तो तेरे अपरिचय की हद हो गई।" वैसे प्रार्थना तो भगवान् की मैं भी करता हूं, जैसे मुझे सूझती है। गांधीजी के बनाए हुए ढांचे में ही प्रार्थना करनी चाहिए, ऐसा मैंने नहीं माना है।

तो, ऐसे मनुष्य के लिए आपकी तरफ से खड़ा होकर कुछ कहना कितना कठिन है, यह आप समझ सकेंगे। फिर भी आज्ञा हुई है तो मन में जो विचार उठते हैं, वे आपके सामने रख देता हूं। हमारे बुजुर्ग नेता भी यहां बैठे हैं। उनसे मार्ग-दर्शन की हम आशा रखते हैं। बापूजी ने तो कई बार कहा था कि उनके पीछे पंडितजी ही उनके वारिस होंगे। इसलिए उनके मार्ग-दर्शन के तो हम हकदार भी हैं।

पहली बात यह कहना चाहता हूं जिसका जिक्र सदर साहब

ने किया है। बार-बार वह बात दिल में आती है। इतना बड़ा देश अपनी आजादी पाते ही फौरन इतना गिर जाता है जिसकी कभी कल्पना भी नहीं की थी। इस देश की यह हालत क्यों हुई? "आज दुनिया भर में यह हुआ है और महायुद्ध का यह नतीजा है," इतना कह देने से हमारा काम नहीं हो जाता। हमारा दावा तो यह है कि हमने अपनी आजादी विशेष तरीके से हासिल की है, जैसे दूसरे देशों ने नहीं की। यद्यपि वह तरीका अख्तियार करने का हमारा ढंग कमजोर था, फिर भी हम कामयाब हुए। दुनिया भी हमारा दावा मंजूर करती है। लेकिन ऐसा दावा करनेवाले लोग यकायक कैसे गिर गए? इसका कारण मैं ढूंढ रहा हूं; लेकिन ठीक जवाब नही मिल रहा है। हम कारणों को जानेंगे तो उनका उपाय कर सकते हैं।

दूसरी विचार करने की बात प्रांतीय भावना की है। जितना संस्कृत साहित्य मैंने पढ़ा, उसमें देश-प्रेम का जहां-जहां जिक्र आया है, वहां *"दुर्लभं भारते जन्म"* ऐसा ही वचन आया है। बंगाल में या महाराष्ट्र में, या गुजरात में जन्म लेना दुर्लभ है, ऐसा वचन कहीं नहीं मिला। यह उस समय की बात है, जब आज के जैसे रेल्वे, पोस्ट आदि यात्रा के साधन नहीं थे। उस जमाने में भी लोगों ने भारत को एक माना और उसमें जन्म लेना भाग्य समझा। उसीको स्वतन्त्र करने के लिए देश भर में हमने आन्दोलन किया और सबने मिलकर उसमें हिस्सा लिया। लेकिन अब स्वतन्त्रता प्राप्त करने पर प्रान्तीय भेद इतने जोरों में क्यों है? उसका दौर बढ़ ही रहा है। उसको कैसे रोका जाय?

वह रोका न जा सका तो आगे चलकर बहुत खतरा पैदा हो सकता है। क्योंकि इसमें वही पागलपन के अंश हैं जो हिन्दू-मुस्लिम सवाल में है।

अब तीसरी महत्त्व की बात साधन-शुद्धि की है। मैं सोचता हूं कि क्या यह कभी मुमकिन हो सकता है कि हिन्दुस्तान भर में एक ही विचार, एक ही 'आइडियालॉजी' चलेगी? अलग-अलग विचार रहने ही वाले हैं, यह अगर तय है, तो क्या यह जरूरी नहीं है कि ऐसे मुख्तलिफ विचार रखनेवालों को इस नतीजे पर आना ही चाहिए कि अपने विचारों के प्रचार में अशुद्ध या हिंसात्मक साधनों का उपयोग न करें? बापू ने अपनी जिंदगी भर हमें यही सिखाया कि, "जैसे हमारे हमारे साधन वैसे ही हमारे मकसद होंगे।" यानी साधनों का रंग मकसद पर चढ़ता है। इसलिए जरूरी होता है कि अच्छे मकसद के लिए साधन भी अच्छे ही होने चाहिए। गांधीजी की हत्या के पीछे एक बड़ी जमात है। वह हत्या की योजना बनाती है, हत्या होने पर आनन्द मनाने की तैयारियां करती है और उसके सारे आयोजन का हम लोगों को पता तक नहीं रहता। क्या ऐसी जमात, अगर हम साधन-शुद्धि का विचार छोड़ देते हैं तो, तारीफ के काबिल नहीं गिनी जायगी? अपना मकसद पूरा करने के लिए चाहे जैसे साधन अगर मान्य समझे जाते हैं तो फिर किसका मकसद ठीक है और किसका बे-ठीक, यह कौन तय करेगा? हरेक को अपना मकसद ठीक ही लगता है। लेकिन कितने ही अलग-अलग मकसद क्यों न हों, उनकी प्राप्ति के लिए हिंसा और असत्य का

उपयोग तो करना ही नहीं है, इस विषय में सब मिलकर एक मोर्चा बना सकेंगे तो वह बड़ी चीज होगी। हमें नये सिरे से प्लैनिंग करना है, नई व्यवस्था स्थापित करनी है, नव-रचना करनी है, इत्यादि प्रश्न इस समय जरा किनारे रखकर यही खयाल पहले पक्का कर लें कि हमें भले साधनों का ही उपयोग करना है।

जिनका ऐसा निश्चय है वे सब हमारे साथ ही हैं, ऐसा हम समझें। हमारी एक बिरादरी स्थापन करने का यहां विचार हो रहा है। उसका नाम क्या हो, कौन-कौन उसमें दाखिल किये जायं, आदि चर्चा चली हैं। मैंने कहा, मुझे नाम नहीं काम चाहिए। साधन के बारे में हम अपना निश्चय करें। वह हो जाय तो उसके माननेवालों के नामों की मुझे जरूरत नहीं है। उनके काम ही दुनिया को दिखाई देंगे। कोई खास संघ स्थापन करने से क्या होगा? संघ में तो चन्द लोगों का ही समावेश होता है।

लेकिन गांधीजी का संघ सारा हिन्दुस्तान है, यह हमें समझना चाहिए। एक भाई मुझसे पूछ रहे थे, "गांधीजी के स्मरण के लिए अशोक-स्तम्भ जैसे स्तम्भ खड़े किये जायं तो कैसा?" मैंने कहा, "जनता से जाकर पूछो कि वह अशोक के स्तम्भों को कितना जानती है? जनता को अशोक के नाम का भी पता नहीं। इतिहास में कई राजा हो गए। उनमें अशोक भी हुआ। वह जरूर एक महान् और दयालु राजा था। लेकिन जनता उसको कहां जानती है? वह तो कबीर, नानक, तुलसीदास को जानती है। वैसे ही गांधीजी का जनता के हृदय में स्थान है। उनके

स्मरण के लिए स्तम्भों की क्या जरूरत ? उनका तो विचार लेकर हमें जनता में पहुंचना चाहिए।"

उनका मुख्य विचार सत्य और शुद्धि का था। साधन-शुद्धि का प्रयोग बड़े पैमाने पर गांधीजी ने ही पहली बार किया। मानव-इतिहास में वह एक नई चीज थी। इसी विचार को दृढ़ करके बाकी के सारे विचार-भेदों को हम गौण समझें तो कितना अच्छा होगा ?

और एक बात। गांधीजी ने 'ट्रस्टीशिप' शब्द का उपयोग किया। ऐसे शब्दों से जैसे कुछ लाभ होता है, वैसे नुकसान भी होता है। 'ट्रस्टीशिप' शब्द के सारे सहचारी भाव (असोसिएशन्स) अच्छे नहीं हैं। आजकल कुछ बुरे सहचारी भाव भी उसके साथ जुड़ गये हैं। 'ट्रस्टीशिप' शब्द की परिभाषा तो हम बोलते हैं; लेकिन उसके पीछे जो विचार है, उसका अमल करने का बन्धन नहीं मानते। ऐसा ही रहेगा तो मुझे डर है कि हिंसा टलनेवाली नहीं है। हमारे यहां गरीबी इस हद तक है कि गरीब जनता को दूसरी तरह से उभड़ाना बहुत ही आसान है। और फिर वह अहिंसा से ही काम लेगी, ऐसा नहीं कह सकते। इसलिए हमें निश्चय करना चाहिए कि 'ट्रस्टीशिप' के सिद्धांत का अमल करने की हम पूरी कोशिश करेंगे और ज्यादा जायदाद नहीं रखेंगे। "इतनी जायदाद जायज और इतनी नाजायज, ऐसी कोई लकीर थोड़े ही खींच सकते हैं," ऐसा कहकर यह बात टाल देंगे तो आगे आनेवाला खतरा अटल है। 'ट्रस्टीशिप' शब्द

की पावनता का आधार लेकर हमारा संसार हम वैसे ही चलावेंगे, तो अच्छा नाम भी दुर्नाम बन जायगा।

रचनात्मक कार्यकर्त्ता-सम्मेलन
सेवाग्राम, १२ मार्च, १९४८

: ३ :

'सर्वोदय'-समाज क्यों ?

कल कुछ बातें आपके सामने मैंने रक्खी थीं। उसमें—मेरे खयाल में—मेरा काम पूरा हो जाता था। लेकिन आज के प्रस्ताव के सम्बन्ध में भी मैं कुछ कहूं, ऐसा तय किया गया है।

आरम्भ में ही मैं कह देना चाहता हूं कि इस प्रस्ताव के समर्थन में मैं खड़ा हुआ हूं। 'सर्वोदय-समाज' के विचार को मैंने क्यों पसन्द किया और इसकी बनावट की चर्चा हो रही थी तब कुछ भिन्न विचार मैं क्यों रखता था, यह आप लोगों के सामने रखना ठीक होगा।

इस बार जेल में काफी देखने और सोचने का मौका मिला। कल मैंने जिक्र किया ही था कि मैं एकान्त में रहनेवाला मनुष्य हूं। यद्यपि भगवान् की कृपा से मेरे साथ कुछ साथी रहते हैं और मेरी मदद करते हैं, फिर भी मैं एकांत-प्रिय ही रहा हूं। लेकिन जेल में तो समाज में ही रहना हुआ और उससे सोचने का काफी मसाला मिल गया। वहां सब तरह के लोगों से सम्बन्ध आया। उनमें कांग्रेसवाले थे, समाजवादी थे, फार्वर्ड

ब्लॉकवाले थे, दूसरे भी थे। देखा कि ऐसा कोई खास पक्ष नहीं है जिसमें दूसरे पक्षों की तुलना में अधिक सज्जनता दिखाई देती हो। जो सज्जनता गांधीवालों में दिखाई देती है, वह दूसरों में भी दिखाई देती है और जो दुर्जनता दूसरों में पाई जाती है, वह इनमें भी पाई जाती है। सज्जनता किसी एक पक्ष की चीज नहीं है, यह जब मैंने देखा तब सोचने पर इस निर्णय पर पहुँचा कि किसी खास पक्ष में या संस्था में रहकर मेरा काम नहीं चलेगा। सबसे अलग रहकर सज्जनता की ही सेवा मुझे करनी चाहिए। जेल से छूटने के बाद यह विचार मैंने गांधीजी के सामने रक्खा। उन्होंने अपनी भाषा में कहा, "तेरा अभिप्राय मैं समझ गया। तू सेवा करेगा, लेकिन अधिकार नहीं रखेगा। यह ठीक ही है।" इसके बाद जिन-जिन संस्थाओं में मैं था, उनसे इस्तीफा देकर अलग हो गया। वे संस्थाएं मुझे प्राण-समान थीं। उनके उद्देश्यों और कार्यक्रमों को अमल में लाने की कोशिश बरसों से मैं करता आया था। उनसे अलग होते समय दुःख जरूर हुआ। लेकिन आनन्द का भी अनुभव किया। क्योंकि उन संस्थाओं की मदद तो मैं करने ही वाला था। लेकिन अहिंसा के विकास के लिए मुक्त रहना जरूरी समझता था। हां, इसके साथ मैं यदि इस नतीजे पर आया होता—जैसा कि शंकररावजी ने सूचित किया—कि कोई भी संस्था जब बनती है तब उसमें थोड़ी हिंसा तो आ ही जाती है, तो उतनी थोड़ी हिंसा की भी गुंजाइश मैं नहीं रखता। और आप लोगों को यही कहता कि "किसी भी संस्था में आप न जायं।"

शस्त्रों के बारे में आज हम इस नतीजे पर आये हैं कि शस्त्र धारण करने से हिंसा ही बढ़ती है। लेकिन एक जमाना था जब कि धर्म या सत्पथ की रक्षा के लिए दयालु पुरुषों ने शस्त्र-धारण करना जरूरी समझा था। उस जमाने में शस्त्रों का कुछ बचाव भी हो सकता था। लेकिन आज तो हम इस निर्णय पर आये हैं कि शस्त्रों से लाभ नहीं होता। हानि ही होती है। पुराने जमाने में भी शस्त्रों पर भरोसा न रखनेवाले कुछ व्यक्ति थे। लेकिन वे व्यक्तिगत जीवन में ही वैसी श्रद्धा रखते थे। सारे समाज को शस्त्र छोड़ने के लिए कहने की हिम्मत वे भी नहीं करते थे। तुकाराम महाराज से यदि शिवाजी महाराज पूछते कि "क्या शस्त्र छोड़ देने की आप मुझे सलाह देंगे ?" तो शायद तुकाराम यही कहते कि "तुम्हारी प्रवृत्ति को देखते हुए तुम्हें शस्त्र छोड़ने के लिए मैं नहीं कहूंगा। यद्यपि मेरी प्रवृत्ति मुझे शस्त्र-धारण को नहीं कहती। अपनी-अपनी प्रवृत्ति के अनुसार चलना ही धर्म हो जाता है।" लेकिन आज की विज्ञान की गति को देखते हुए शस्त्रों के उपयोग से जो अपार हानि होगी, उसकी तुलना में उनसे होनेवाला लाभ इतना नगण्य है कि उसको हिसाब में भी नहीं गिना जायगा।

इसलिए अब हम लोग इस निर्णय पर आये हैं कि शस्त्रों से तो हिंसा ही होती है। वैसे इस निर्णय पर अबतक नहीं आया हूं कि अगर संस्था बनती है तो उसमें कुछ-न-कुछ हिंसा आ ही जाती है। शंकररावजी ने उसके लिए जो दृष्टान्त दिया है, उसको भी मैं सुधारना चाहता हूं। मनुष्य में हिंसा का अंश होता है,

इसलिए जहां दो मनुष्य इकट्ठा होते हैं, वहां हिंसा आने ही वाली है, यह एक सामान्य बात उन्होंने कही। लेकिन वह हमेशा का नियम नहीं है। मुझमें हिंसा है। लेकिन मैं जब किशोरलालभाई-जैसे पुरुष के साथ काम करता हूं तब मेरी हिंसा कम हो जाती है। यानी सज्जन लोग जब इकट्ठा होते हैं तब हिंसा कम हो जाती है। "एक से दो भले" हम कहते ही हैं न ?

हां, ऐसी संस्था जब हम बनाते हैं जहां कुछ अनुशासन है, और उस अनुशासन को न माननेवालों के खिलाफ कारंवाई करनी पड़ती है, वहां हिंसा का संभव रहता है। लेकिन वहां भी किसी पर संस्था में दाखिल होने का अगर बंधन नहीं है और संस्था के नियम जाहिर किये गए हैं, तो बात दूसरी हो जाती है। संस्था में शामिल न होने की हरेक को स्वतंत्रता है। शामिल होने पर भी कुछ नियमों का पालन हम नहीं कर सकते हैं तो संस्था से स्वेच्छापूर्वक हटने का भी मौका है। लेकिन जो आदमी अपनी इच्छा से ऐसी संस्था में दाखिल होता है, फिर नियमों का पालन ठीक नहीं करता और तिस पर भी संस्था के अन्दर रहने का आग्रह रखता है, उसके खिलाफ मजबूर होकर संस्था को अनुशासन की कारंवाई करनी पड़ती है तो इस कारंवाई का बचाव भी हो सकता है। फिर भी उसमें हिंसा का अंश दाखिल होना संभव है। लेकिन ऐसे अनुशासन की भी जहां गुंजाइश नहीं है, वहां हिंसा का सवाल नहीं आता है। 'सर्वोदय-समाज' ऐसी संस्था है। यहां अनुशासन नहीं है। इससे बहुत सारे खतरे मिट जाते हैं। इसलिए मैं इसका समर्थन कर रहा हूं।

अब नाम के बारे में कुछ कहना चाहिए। 'संघ' न कहते हुए जो 'समाज' शब्द रक्खा है, वह साहित्यिक दृष्टि से नहीं रक्खा है। इसके पीछे विचार है। संघ शब्द में विशिष्ट अर्थ है। उसमें व्यापकता की कमी है। समाज व्यापक है और 'सर्वोदय' शब्द के कारण उसकी व्यापकता परिपूर्ण हो जाती है। नाम का परिवर्तन एक महत्त्व की चीज होती है। बहुत सारा काम नाम से ही हो जाता है। जीवन में परिवर्तन करने की शक्ति अच्छे नामों में होती है।

अब 'सर्वोदय' के बारे में थोड़ा कह दूं। अमुतुस्सलाम ने चिट्ठी भेजी है। उसमें वह कहती हैं कि 'सर्वोदय' शब्द हमारे देहाती भाई आसानी से नहीं समझ सकेंगे। उन्होंने सुझाया है कि इसमें गांधीजी का नाम जोड़ दिया जाय। उनकी भावना से मेरी सहानुभूति है और मैं मानता हूं कि जैसे किसी व्यक्ति का नाम रखने में कुछ दोष आ जाता है, वैसे उस नाम को टालने में भी दोष हो सकता है। लेकिन मेरी सूचना है कि इस बारे में आग्रह न रक्खा जाय। गांधीजी ने देह छोड़ते वक्त भगवान् का नाम लिया था। उसीका आश्रय लेकर हम काम करें। उसीसे हमें स्फूर्त्ति और मार्ग-दर्शन भी मिलेगा।

'सर्वोदय' शब्द देहाती भाइयों के लिए कुछ कठिन हो सकता है। लेकिन यह कबूल करते हुए भी मुझे कहना है कि यही नाम रक्खा जाय। 'सत्याग्रह' शब्द भी वैसे कठिन था। लेकिन प्रत्यक्ष कृति से वह आसान बन गया। वैसे ही यह शब्द एकदम नया भी नहीं है, गांधीजी का बनाया हुआ है। गांधीजी ने

रस्किन की 'अन् टु दिस लास्ट' नाम की किताब का अनुवाद किया है। उसका उन्होंने 'सर्वोदय' नाम रक्खा था। ऊंच और नीच सबके मानवी अधिकार समान हैं, यह तत्त्व उसमें बतलाया है। उसीको गांधीजी ने 'सर्वोदय' का विचार कहा। गांधीजी के विचारों का प्रचार करनेवाली जो मासिक पत्रिका निकली थी, उसे भी 'सर्वोदय' नाम दिया था। 'नवजीवन' शब्द जब निकाला था तब वह कठिन ही था। विशेष अर्थ बतानेवाले शब्दों का कठिन होना कोई आपत्ति नहीं है। ऐसे कठिन शब्द समझाने के निमित्त से जनता के हृदय तक पहुंचने का मौका मुझे मिलता है और जनता के ज्ञान में वृद्धि होती है। विशेष शब्द रखने का लाभ यह है कि उसे सुनते ही लोग हमें पूछेंगे, "भाई इसका अर्थ क्या है ?" इससे देहाती भाइयों को पाठ देने का पहला मौका उस नाम से ही मुझे मिल जाता है। इसके बदले उनके परिचय का कोई नाम यदि मैं रखता हूं तो मेरी जरूरत ही कहां रही ? फिर मैं ही खतम हो जाता हूँ। 'सर्वोदय' शब्द समझाते समय भी अगर मैं कठिन शब्दों से काम लूंगा तो मुझपर जरूर आक्षेप लागू होगा। लेकिन मैं तो ऐसे ही शब्दों से समझाऊंगा, जिन्हें वे आसानी से समझ सकते हों इसलिए यह शब्द की चर्चा अब मैं छोड़ देता हूँ।

इस प्रस्ताव के पीछे एक महान् विचार है। एक गांधी गया, उसकी जगह करोड़ों गांधी पैदा हों, ऐसी शक्ति उसमें है। यह संस्था न तो नियंत्रण करनेवाली है, न कोई सत्ता चलानेवाली है, न गांधीजी के सिद्धान्तों का अर्थ बतानेवाली है। इसलिए इस

में कोई भय नहीं है। इस प्रस्ताव में जो विचार है, वह क्रान्ति करनेवाला है। आखिर 'गांधीजी के सिद्धान्त' जिन्हें कहा जाता है, वे आये कहां से ? क्या वे गांधीजी के बाप के थे ? सिद्धान्त किसीके बाप के नहीं होते। वे तो आत्मा के सिद्धांत थे। वही आत्मा आपमें और मुझमें मौजूद है। इसलिए वे हम सबके सिद्धांत हैं। जो उन्हें मानता है, उसके वे सिद्धांत हैं। इन सिद्धांतों को अपना समझकर हम चलेंगे तभी काम होगा। हम सत्य का आग्रह रक्खेंगे तो क्या गांधीजी कहते हैं इसलिए ? क्या गांधीजी के कारण सत्य की प्रतिष्ठा है ? या सत्य के कारण गांधीजी की प्रतिष्ठा है ? एक भाई ने मुझसे कहा, "गांधीजी ने शरीर-परिश्रम को अपनाकर उसकी प्रतिष्ठा बढ़ाई।" मुझसे रहा नहीं गया। मैंने कहा, "गांधीजी कौन थे जो श्रम को प्रतिष्ठा देते ? शरीर-परिश्रम को अपनाकर गांधीजी ने खुद प्रतिष्ठा प्राप्त की है। सिद्धांत व्यक्ति से बढ़कर होते हैं। इसलिए उनका अमल करके व्यक्ति प्रतिष्ठा पाते हैं।"

गांधीजी से तो मैंने भर-भरकर पाया है। लेकिन उनके अलावा औरों से भी पाया है। जहां-जहां से जो मिला, वह मैंने मेरा कर लिया। अब वह सारी पूंजी मेरी हो गई है। उसमें से गांधीजी की दी हुई कितनी है और दूसरे की दी हुई कितनी है, इसका अलग-अलग हिसाब भी मेरे पास नहीं है। जो विचार मैंने सुना, वह अगर मुझे जंच गया और उसे मैंने हजम कर लिया तो फिर वह मेरा ही हो गया। वह अलग कैसे रहेगा ? मैंने केले खाये और हजम किये, उनका मांस मेरे शरीर पर

चढ़ा। अब वे केले कहां रहे ? वे तो मेरा जिस्म बन गये। इसी तरह से जो विचार मैंने अपनाया, वह मेरा ही हो गया। और फिर मेरी चीज़ में मुझे जो ममता होती है, उसी ममता से उस विचार को मैं दूसरों के सामने रक्खूंगा। 'घर किसका ?' तो बोले, 'मेरा।' घर मेरा, जायदाद मेरी, और सिद्धांत या विचार गांधीजी के ! यह कैसी बात है ? अगर सिद्धांत गांधीजी के हैं तो घर और जायदाद भी गांधीजी की है, ऐसा क्यों नहीं कहते ? गांधीजी के कोई सिद्धांत होते तो मृत्यु के बाद वे अपने साथ उन्हें ले गये होते। लेकिन वैसा नहीं है। सिद्धांत गांधीजी के नहीं हैं, बल्कि गांधीजी द्वारा प्रकट हुए हैं। उन्हें जब मैं ग्रहण करता हूं तब वे मेरे ही बन जाते हैं। उन्हें लोगों के सामने रखते समय गांधीजी के नाम से रखने की ज़रूरत नहीं है। स्वतन्त्र रूप से लोगों को विचार समझा सकते हैं। वे लोगों की बुद्धि को जँच जायं, उनके बन जायं, तभी उनका अमल वे करें, ऐसा मैं कहूँगा। इस तरह काम करेंगे तो हिन्दुस्तान का कायापलट हो जायगा। मंत्र के अक्षर कागज़ पर लिखे होते हैं। उनको समझकर अपने जीवन में उनके अनुसार जो परिवर्तन करता है, उसको वे काम आते हैं। नहीं तो, एक कीड़ा उन मंत्रों को कागज सहित पूरा खा जाता है, फिर भी कोई लाभ उसे नहीं होता। यही विचारों का हाल है।

इस प्रस्ताव में यह भी बात लिखी है कि 'सर्वोदय-समाज' के विचारों को माननेवाले अपने-अपने नाम पोस्टकार्ड द्वारा भेज दें। ताकि उनकी फेहरिस्त रक्खी जा सके। मैं नहीं समझ पाया

हूं कि ऐसी फेहरिस्त का हम क्या करेंगे ? फिर भी मैंने अनुमति दे दी। क्योंकि मैंने देखा कि उससे हमारे भाइयों को संतोष होता है। लेकिन इससे यह नहीं समझा जाय कि 'सर्वोदय-समाज' के वे ही सेवक हैं जिन्होंने अपने नाम भेजे हैं। जिनके नाम दफ्तर में दर्ज नहीं है, लेकिन जो इसी काम को कर रहे हैं, वे भी इस समाज के सेवक हैं। प्रतिवर्ष जो मेला लगेगा, उसमें जिनके नाम दफ्तर में हैं, वे ही आयें, ऐसा भी नहीं है। इस विचार में श्रद्धा रखनेवाले सब कोई उस मेले में आ सकते हैं। जो आयेंगे, वे अपनी-अपनी व्यवस्था खुद कर लेंगे, जो अपने नाम भी नहीं भेजेंगे और इस मेले में भी नहीं आयेंगे, लेकिन अपने स्थान पर ही काम करते रहेंगे, वे भी इस समाज के सेवक हैं। जो अपने को सेवक नहीं कहलवाते, लेकिन काम यही करते हैं, वे भी सर्वोदय-समाज के सेवक हैं। ऐसा व्यापक हमारा सर्वोदय-समाज है।

एक बात और है जो एक भाई ने मुझे सूचित की है। हम सब लोग जानते हैं कि गांधीजी ने परमेश्वर की प्रार्थना के विचार में और प्रार्थनास्थल पर देह छोड़ी है। लेकिन प्रार्थना का जो दर्शन गांधीजी को हुआ था, वह अबतक हमें नहीं हुआ है। इसलिए वे भाई सुझाते हैं कि करने की जो बातें प्रस्ताव में लिखी हैं, उनमें प्रार्थना को क्यों न दाखिल करें ? बात तो ठीक है। लेकिन करने की बहुत-सी बातों में इसको जोड़ देने से उद्देश्य सफल नहीं होगा। प्रार्थना में अपार शक्ति है, यह मैं मानता हूँ। कुछ ही दिन पहले मैंने इसका जिक्र किया था। नारद ने भगवान् से

पूछा, "आप कहां रहते हैं ?" भगवान् ने जवाब दिया, "योगियों के हृदय में भी शायद मैं न रहूं; लेकिन जहां मेरे भक्त एकत्र होकर गायन करते हैं, वहां मैं अवश्य रहता हूं।" गांधीजी का आखरी संदेश भी यही है। लेकिन प्रार्थना केवल एक बाह्य क्रिया थोड़े ही है। वह तो हृदय की बात है। मनुष्य को भगवान् ने वाणी दी है, इसलिए वह वाणी से भी भगवान् का नाम लेता है और समाधान पाता है। हम 'मां' कहकर पुकारते हैं तो हमें समाधान होता है। किसीने मुझसे पूछा, "मां का नाम लेने से क्या होता है ?" मैंने जवाब दिया, "तू बीमार पड़, फिर कहूंगा क्या होता है ?" एक आदमी की मां पच्चीस साल पहले मर चुकी थी। वह बीमार पड़ा तब "हे मां" कहने लगा। क्या वह जानता नहीं था कि उसकी मां मर चुकी है ? लेकिन उसने जिस मां का नाम लिया, वह उसके लिए जिंदा थी। इस तरह भगवान् के एक अंशमात्र के नाम का जब इतना प्रभाव होता है तो प्रत्यक्ष भगवान् के नाम से कितनी ताकत हमें मिल सकती है, यह वस्तु हम समझें और प्रस्ताव में लिखे बिना उसे जीवन में मुख्य स्थान दें।

मेरा आपसे निवेदन है कि आपके सामने जो प्रस्ताव आया है, उसे आप मंजूर करें और उसका यथाशक्ति अमल करें।

रचनात्मक कार्यक्रम-सम्मेलन,
सेवाग्राम, १४ मार्च, १९४८

: ४ :

साधन-शुद्धि का सिद्धान्त

मैं इस प्रस्ताव की ताईद करने के लिए खड़ा हुआ हूं। बापू के जाने की खबर जब मुझे मिली तब दो-तीन दिन तक मेरा चित्त केवल शांत रहा। मेरी कुछ ऐसी आदत है कि किसी चीज का मुझपर एकदम असर नहीं होता। वैसे इस घटना का भी हुआ। लेकिन दो-तीन दिनों के बाद असर होने लगा और चित्त में व्याकुलता भी आ गई। उन दिनों गोपुरी में रोज प्रार्थना में बोलना पड़ता था। सेवाग्राम के आश्रम में भी तीन दिन मैं बोला। पहले रोज वहां प्रार्थना-भूमि पर जब मैं बोलने लगा तो मेरी आंखों से आंसू गिरने लगे। यह बात सुनकर किसी भाई ने पूछा, "क्या विनोबा भी रोये?" मैंने कहा, "हां भाई, मुझे भी भगवान् ने हृदय दिया है। उसके लिए मैं भगवान् का उपकार मानता हूं।" लेकिन मेरी आंखों में आंसू आये, वे बापू की मृत्यु के लिए नहीं थे। क्योंकि मैं मानता हूं कि उनकी मृत्यु तो ठीक वैसी ही हुई जैसी किसी भी महापुरुष की हो सकती है। इसलिए मेरे लिए तो वह आनंद की ही बात

थी। मुझे दुःख इस बात का था कि हमारे भाइयों की इस हत्याकारी मनोवृत्ति को मैं रोक नहीं सका। यहां तक कि पवनार से भी कुछ लोग आर० एस० एस० के मामले में गिरफ्तार किये गए। वे गुनहगार ही होंगे, ऐसा मैं नहीं मानता। कुछ भी हो, लेकिन भावार्थ यह हुआ कि जिस गांव में मैं दस सालों से रहता हूं, वहां वालों के हृदय तक भी मैं नहीं पहुंचा। और इसी बात का मुझे बड़ा दुःख हुआ।

यह जो प्रस्ताव आपके सामने रखा गया है, उसके पहले हिस्से में एक महान् विचार है। हमें समझना चाहिए कि सारे हिन्दुस्तान में सबका एक ही मकसद होना असंभव है। ऐसी स्थिति में अपने-अपने मकसद के लिए लोग जो साधन इस्तेमाल करेंगे, वे अगर सच्चे और अहिंसक न रहे तो हिन्दुस्तान के टुकड़े-टुकड़े हो जानेवाले हैं। हिंदुस्तान में यह घटना जिस प्रकार घटी, उसका दुःख मेरे दिल में इतना है कि उसे प्रकट करने में मेरी वाणी असमर्थ है। लेकिन इसका सारा दोष आर० एस० एस० वालों पर रखने से हमारा काम नहीं होगा। वे तो हमसे भिन्न विचार रखनेवाले हैं। लेकिन उनमें भी कुछ भले और त्यागी लोग तो पड़े ही हैं। उनका हमें आदर भी करना चाहिए। दोष तो हमें अपना ही देखना चाहिए। सन् १९४२ में हमने क्या किया? उसमें छिपे तरीके काम में लाये, हिंसा भी की। और यह सारा गांधीजी के नाम पर किया। इतना ही नहीं, बल्कि उसका बचाव भी किया। ऐसा यदि है तो हमसे भिन्न विचार रखनेवाले उसी तरह के छिपे और हिंसात्मक तरीकों से काम

करें तो हम उन्हें क्या कहें ?

इस प्रश्न पर मैंने काफी अन्तःशोधन किया। अन्त में इस नतीजे पर आया कि हमारे मकसद कितने भी अच्छे क्यों न हों, उनकी पूर्ति के लिए हम अच्छे ही साधन इस्तेमाल करेंगे, ऐसा आग्रह अपने जीवन में रखनेवालों का एक आम मोरचा (कॉमन फ्रण्ट) हमें बनाना चाहिए। चन्द लोग ही क्यों न हों, पर इस बात को मंजूर करके अपने जीवन में उसका अमल करने का आग्रह रखनेवाले होने चाहिएं। तब वह एक नैतिक मोरचा (मॉरल फ्रण्ट) बन जाता है और उसीकी आज बहुत जरूरत है।

पुलिस-बन्दोबस्त के अन्दर हमारी यह परिषद् हो रही है, यह कितने दुःख की बात है। इससे व्याकुल होकर कुमारप्पा तो कुछ देर परिषद् में गैरहाजिर रहे। लेकिन उनके साथ सहानुभूति रखते हुए भी मैं मानता हूं कि इसके सिवा चारा नहीं था। इसका अधिक-से-अधिक दुःख पं० जवाहरलालजी को हुआ है, जिसे उन्होंने अपने भाषण में प्रकट भी किया। उन्होंने कहा, "अहमदनगर के किले में हम कैद थे, लेकिन तब हम आजाद थे। कैद अब महसूस होती है।" उन्होंने यह भी कहा कि देखेंगे, एक दो महीनों तक कैसे चलता है। लेकिन अगर इस चीज को वे सहन नहीं करेंगे और पहले जैसे खुले घूमने लगेंगे तो मैं कहूंगा कि आप मेरे जैसे नालायकों के प्रतिनिधि बनने योग्य नहीं हैं। क्योंकि मैं तो ऐसा मनुष्य हूं जो अपने गांववालों को भी नहीं सम्हाल सकता।

अपना यह दुःख किस भाषा में मैं प्रकट करूं ? मैं तो मानता हूं कि बापू की हत्या की जिम्मेदारी हमारे ऊपर है। बापू ने बार-बार हमसे कहा कि अपने साधन शुद्ध रक्खो। हम उस बात में ऊपर-ऊपर से तो 'हां' करते गए, लेकिन उसके अनुसार हमने अपना जीवन नहीं बदला। ऐन मौके पर तो हमने असत्य और हिंसा से ही काम लिया। उसीका फल भगवान् हमें चखा रहा है, ऐसा मैं मानता हूं।

पण्डितजी ने अपने भाषण में एक बात बहुत ही सहजता से कही। उन्होंने कहा कि जब बापू हमसे यह कहते थे कि अंग्रेजों के साथ अहिंसा से ही लड़ो तब उनकी बात से मैं सहमत हो गया ; क्योंकि मैंने सोचा कि यदि अंग्रेजों के लड़ने के निमित्त हिंसा को हिन्दुस्तान में स्थान मिला तो उनके चले जाने पर वह हिंसा सारे हिन्दुस्तान को खा जायगी। कितनी सरल दलील है यह।

लेकिन मैं देखता हूं कि हमने इस चीज को अभी गहराई से नहीं सोचा है। क्या अहिंसा हमेशा का ही नियम है ? क्या ऐसा मौका नहीं ही हो सकता जबकि हिंसा का उपयोग करना पड़े ? ऐसी भी शंका हमें हुआ करती है। आज ही हमारे एक भाई ने सदर साहब को एक पत्र लिखा, जिसमें कुछ-कुछ प्रसंगों पर हिंसा का सहारा लेने की सहूलियत रहनी चाहिए, ऐसी सूचना है।

इस सूचना पर टीका तो क्या करूं, लेकिन इससे दीखता है कि अभी भी हमारा दिमाग साफ नहीं है। अहिंसा के पालन में रिआयत की मांग क्यों होती है ? अहिंसा की शर्त्त कड़ी क्यों

लगती है ? मान लो कि हमें इमारत बनानी है। विज्ञान कहता है कि दीवार समकोण में, याने ९०° अंश में, ही खड़ी करनी होगी। तब क्या उसकी शर्त हम कड़ी मानेंगे ? जब हम जानते हैं कि इमारत ९०° अंश में खड़ी नहीं करते हैं तो गिर जाती है, तो हम ऐसा थोड़े ही कहते हैं कि वह ८५° या ८०° अंश में क्यों न खड़ी की जाय ? ९०° अंश का आग्रह रखते हुए भी बनाने में कुछ कसर रह गई तो वह दूसरी बात है, लेकिन छूट या अपवाद की गुंजाइश पहले से ही हम क्यों रक्खें ? यह गुंजाइश आगे चलकर बढ़ जाती है और हमें पूरा ही खा जाती है। मान लो कि किसी खेत के इर्दगिर्द बाढ़ लगादी और बीच में कुछ जगह वैसी ही छोड़ दी तो क्या होगा ? भैंसें वहांसे घुसकर सारा खेत खा जायंगी। इसी तरह इस बातको सोचो। अहिंसा का आग्रह रखने के बाद, उसका अमल करने की पूरी कोशिश करते हुए कभी भूल हो सकती है; लेकिन पहले से ही उसके लिए गुंजाइश नहीं रखनी चाहिए।

अब प्रस्ताव के आखिरी हिस्से के बारे में। उसमें शरणार्थियों की सेवा की बात है। उस सेवा की आज अत्यन्त जरूरत है और देश के सामने वह एक बड़ी भारी समस्या है, इसमें कोई शक नहीं है; लेकिन मुख्य बात पहली ही है। सत्य-अहिंसा से ही काम लेंगे, ऐसी हमें प्रतिज्ञा कर लेनी चाहिए। ऐसा मनुष्य अपनी जगह रहकर भी जो काम करेगा, उससे वह हिन्दुस्तान को बचायेगा। कृपलानीजी ने अपने सुन्दर भाषण में एक बहुत महत्त्व की बात कही। उन्होंने कहा कि सेवा के काम

जब किसी इन्किलाबी सिद्धान्तों से जोड़ दिये जाते हैं तब उनसे ताकत पैदा होती है। हमारे साधन सच्चे ही होने चाहिएं, यह एक क्रान्तिकारी सिद्धांत हैं। उसके साथ शरणार्थियों की सेवा को इस प्रस्ताव में जोड़ दिया है। बुरे साधनों का नतीजा ही ये शरणार्थी हैं। साधन-शुद्धि का संकल्प करके अगर हम उनकी सेवा में लग जाते हैं तो हमारे जीवन में क्रांति हो जायगी। और हमारे जीवन में जब क्रांति हो तो अन्त में सारी दुनिया में में वह होगी।

आज दोपहर की बैठक में नये कार्यकर्त्ता तैयार करने की कुछ व्यवस्था होनी चाहिए, इस विषय पर चर्चा चल रही थी। कार्यकर्त्ताओं के अभाव में काम रुक रहा है, ऐसा जाजूजी कहते थे। हमारे पूर्वजों ने तो बार-बार इस बात को समझाया है कि आप किसी भी काम को करते रहिये, उसके साथ स्वाध्याय और प्रवचन होना ही चाहिए। मैं तो इस विचार का प्रतिदिन अमल करता आया हूं। लेकिन सारे हिन्दुस्तान की दृष्टि से देखा जाय तो यह आक्षेप सही है कि हमने इस ओर ध्यान नहीं दिया। इसलिए कार्यकर्त्ता तैयार करने के लिए शिक्षण की कोई व्यवस्था होनी चाहिए। उसके लिए लायक आदमी चाहिए और अपना चालू काम छोड़कर ही उनको इस काम में लग जाना चाहिए, ऐसी हालत थी। क्योंकि लायक मनुष्य बेकार नहीं होते और बेकार मनुष्य लायक नहीं होते। तब यह समस्या कैसे हल हो? एक-एक से पूछा जा रहा था। अपना-अपना काम छोड़ना हरएक को मुश्किल हो

रहा था। आखिर हरिभाऊजी (उपाध्याय) से पूछा गया तो उन्होंने कहा कि अगर अपना चालू काम छोड़ सकूं तो शिक्षण का काम मैं अच्छी तरह कर सकूंगा। उसके लिए जरूरी व्यवस्था भी हमारे पास मौजूद है। लेकिन चालू काम छोड़ना ही है तो शरणार्थियों की सेवा में लग जाने की इच्छा होगी। यह सुनते ही बिजली-जैसा एक विचार मुझे सूझ गया। मैंने कहा, ठीक है। शरणार्थियों के काम के लिए अगर अपना स्थान छोड़ने की हमारी तैयारी है, तो वहीं हमारा विद्यालय क्यों न हो ? हमारे लोग शरणार्थियों में जायंगे तो उनके साथ हम ८-१० विद्यार्थी देंगे। वे काम में मदद देंगे और साथ-साथ तालीम भी पायंगे। 'काम करते-करते तालीम पाना' यही तो हमारी शिक्षण-दृष्टि है। इसलिए शरणार्थियों के काम में लग जाने की अगर तैयारी होती है तो कार्यकर्त्ताओं को शिक्षण देने का प्रश्न अच्छी तरह हल हो सकता है। लेकिन इस काम में पड़ने की वृत्ति क्षणिक उत्साह से नहीं होनी चाहिए। धृतियुक्त उत्साह चाहिए।

जो लोग इस काम में लगेंगे, वे शिक्षक की योग्यता रखते हों तो उस हैसियत से आवें, जो वैसी योग्यता न रखते हों, वे अपने को विद्यार्थी समझकर आवें। उनको काम करते-करते उत्तम शिक्षा मिलेगी। शरणार्थियों की सेवा का काम समाप्त होने पर फिर अपने प्रांतों में वे लोग उत्तम विद्यालय चला सकेंगे।

इसलिए क्षणिक उत्साह से नहीं, लेकिन पूरा सोचकर

और साधनों के बारे में दृढ़ निष्ठा बनाकर, हम इस काम में लग जायं तो देश का और दुनिया का बहुत भला होगा। देश पर आई हुई महान् आपत्ति भी सम्पत्ति का रूप ले लेगी।

रचनात्मक कार्यकर्ता-सम्मेलन,

सेवाग्राम, १५ मार्च, १९४८

: ५ :

'सर्वोदय' का सरल अर्थ

'सर्वोदय' एक ऐसा अर्थघन शब्द है कि उसका जितना अधिक चिन्तन और प्रयोग हम करते जायंगे, उतना ही अधिक अर्थ हम उससे पाते जायंगे। सारा अर्थ एकदम सूझनेवाला नहीं है। आहिस्ता-आहिस्ता वह सूझेगा। लेकिन उसका एक अर्थ स्पष्ट है कि जब भगवान् ने मानव-समाज का इस दुनिया में निर्माण किया है तो मानव का आपस-आपस में विरोध हो, एक का हित दूसरे के हित के विरोध में हो, यह मन्शा कदापि नहीं हो सकती। कोई बाप यह नहीं चाहता कि एक लड़के का हित दूसरे के हित के विरोध में हो। लड़कों में विचार-भेद हो सकता है; लेकिन हित-विरोध नहीं हो सकता। भिन्न-भिन्न विचार हों तो ऐसे अनेक विचार मिलकर एक पूर्ण विचार बन सकता है; क्योंकि किसी एक आदमी को पूर्ण विचार सूझे, यह हो नहीं सकता। एक को एक अंग सूझेगा, दूसरे को दूसरा अंग सूझेगा तो तीसरे को तीसरा अंग सूझेगा और इस तरह मिलकर एक पूर्ण विचार होगा। इसलिए विचार-भेदों का

होना जरूरी है। इसमें दोष नहीं है, बल्कि गुण ही है। लेकिन हित-विरोध नहीं होना चाहिए।

लेकिन हमने अपना जीवन ऐसा बनाया है कि एक के हित में दूसरे के हित का विरोध पैदा होता है। धन आदि जिन चीजों को हम लाभदायी मानते हैं, उनका सामनेवाले की परवाह किये बगैर ही और कभी-कभी उससे छीनकर भी संग्रह करते हैं। प्रेम से भी अधिक कीमत धन को, यानी सुवर्ण को हमने दे रक्खी है। ऐसी सुवर्णमयी दुनिया में फैल गई है। उसीका नतीजा है कि जो परस्पर मेल या समन्वय आसान होना चाहिए था, वह मुश्किल हो गया है। उस मेल की शोध में कई राजकीय, सामाजिक और आर्थिक शास्त्र बन गये हैं, फिर भी सबका हित नहीं सध रहा है। लेकिन हम एक सादी बात समझ लेंगे तो वह सधेगा। हरएक व्यक्ति दूसरे की फिक्र रक्खे और अपनी फिक्र भी ऐसी न रक्खे कि जिससे दूसरे को तकलीफ हो। यही कुटुम्ब में होता भी है। कुटुम्ब का यह न्याय समाज को लागू करना कठिन नहीं होना चाहिए, बल्कि आसान होना चाहिए। इसीको 'सर्वोदय' कहते हैं।

'सर्वोदय' का यह एक बहुत ही सरल और स्पष्ट अर्थ है। हम जैसे-जैसे प्रयोग करते जायंगे, वैसे-वैसे ही उसके और भी अर्थ निकलेंगे। लेकिन यह उसका कम-से-कम और स्पष्ट अर्थ है और इसीसे यह प्रेरणा मिलती है कि हमें दूसरे की कमाई का नहीं खाना चाहिए। हमें अपना भार दूसरे पर नहीं डालना चाहिए। हमें अपनी कमाई का खाना चाहिए। दूसरे का धन

किसी तरह हम ले लें, इसे अपनी कमाई नहीं कहा जा सकता। कमाई का अर्थ है प्रत्यक्ष पैदाइश। ये दो नियम हम ले लें तो सर्वोदय-समाज का प्रचार दुनिया में हो सकेगा।

एक छोटा-सा बच्चा भी सर्वोदय-समाज का सेवक बन सकता है अगर वह दूसरे की सेवा करता है और कुछ-न-कुछ पैदा करता है। इस तरह इस समाज के लाखों-करोड़ों सेवक बन जायंगे। अभी उन सेवकों का रजिस्टर रक्खा जाता है, लेकिन तब ऐसी नौबत आयगी कि किन-किन के नाम रजिस्टर में लिखे जायं, क्योंकि सारी दुनिया अपना नाम इसमें देगी। मैं प्रभु से प्रार्थना करता हूं कि ऐसा दिन आवे।

सर्वोदय-समाज,

राऊ (इन्दौर)

८ जून, १९४९

: ६ :

सर्वोदय की सिद्धि का मार्ग

आज इस अवसर पर मुझे एक विशेष ही आनन्द की अनुभूति हो रही है। आप सब वैष्णवजन होने की इच्छा रखने वाले हैं और वैसी कोशिश करनेवाले हैं। आप लोगों की इस संगति को मैं अपना भाग्य मानता हूं। यहां हम लोग कुछ चर्चा करेंगे और शायद उसमें से कुछ नतीजे लायंगे। लेकिन मेरे लिए उन सब चर्चाओं से और नतीजों से विशेष लाभदायी बात यह मालूम होती है कि हम सब साथ मिल रहे हैं। आज सुबह मित्रों में चर्चा हो रही थी कि हम हर साल एक सम्मेलन करें। सम्मेलन किसलिए? मैंने सुझाया—"सेवकों के आपस के सम्पर्क के लिए।" वह सूचना तो स्वीकार कर ली गई, पर उसमें सुधार के तौर पर यह शब्द और बढ़ाये गए—"विचार-विनिमय के लिए।" जब इकट्ठा होते हैं तो विचार-विनिमय तो हम करेंगे ही। इसलिए इस शब्द को लाने में कोई हर्ज तो है ही नहीं। लेकिन मेरे मन में 'सम्पर्क' शब्द ही काफी था; क्योंकि शब्दों से जो विचार-विनिमय हम करते हैं, उससे भी

अधिक गहरा विचार-विनिमय मन से, मौन से, एक हवा में बैठने से, एक श्रद्धा की अनुभूति में, एक मन्त्र का मानसिक मनन करने में, कर सकते हैं। हम सबने यहां एकत्रित होकर अभी कात लिया। यह दृश्य इन दिनों दुर्लभ-सा हो गया है। मैं इसका अत्यन्त प्यासा हूं। इसलिए जब मैं इस उपासना में सब भाई-बहनों के साथ शामिल होता हूं तो चित्त में एक ऐसी अवस्था का अनुभव करता हूं कि जिसको शायद 'समाधि' कहना गैरवाजिब न होगा। मेरी दृष्टि से यही मेरा आनन्द है कि हम सब साथ आए हैं, एकत्र होकर भगवान् का नाम लेते हैं। हमको एक मार्ग-दर्शक मिला था। अगर हम उसके मार्ग-दर्शन में चलने की फिर से प्रतिज्ञा करते हैं तो यह हमारे लिए बहुत है, इसीसे हमारा पुण्य-पुञ्ज बढ़ेगा, शक्ति बढ़ेगी।

हमारा यह संगठन एक ढीला-ढाला संगठन कहा जाता है। शब्द हमेशा विचार को ठीक बतलाता है, ऐसी बात नहीं है। अगर इसे संगठन ही कहना है तो मैं इसे सहज संगठन कहना चाहूंगा। बेहतर तो यही है कि हम अपने मन में समझें कि यह असंगठन है। यह रचना नहीं है, बल्कि सहज सम्पर्क है। इस पर लोग आक्षेप करते हैं कि ढीले संगठन से क्या लाभ होगा? मेरे खयाल में वह आक्षेप सही भी है। हम अगर एक यन्त्र चलाना चाहते हैं तो उस यन्त्र को कसा हुआ होना चाहिए। यदि घर्षण के डर से हम उसे ढीला रक्खें तो वह यन्त्र काम नहीं देगा, यह यन्त्र-शास्त्र है। तो फिर करना क्या चाहिए? करना यही चाहिए कि यदि यन्त्र चलाना है तो उसे चुस्त रक्खा

जाय और यह ध्यान रखकर कि उसमें घर्षण होगा, उसमें स्नेहन के लिए तेल डाला जाय। घर्षण के डर से यन्त्र ढीला रक्खेंगे तो न घर्षण होगा और न तेल की जरूरत होगी—लेकिन साथ-साथ उस यन्त्र से कुछ काम भी नहीं होगा। "मास्टर मारे नहीं, ने भणावे नहीं" (मास्टरजी न मारें, न पढ़ावें), ऐसी बात हो जायगी। सर्वोदय समाज के लिए किसी तरह की संघटना की कल्पना नहीं है; लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि हमारा काम बिखरा हुआ होना चाहिए। हम जो काम करना चाहते हैं, उसके लिए हमारे पास कोई संगठन नहीं है, ऐसी बात नहीं है। हमारे पास जो संस्थाएं हैं और जो अलग-अलग काम करती हैं, उन सबका संगठन हम करने जा रहे हैं। उसमें से ही सर्व-सेवा-संघ पैदा हो रहा है। वह हमारा कार्य का यन्त्र होगा और यह जो सर्वोदय-समाज है, वह सहविचार का, सहचिन्तन का, तत्त्व-संकीर्तन का, नाम-जप का साधन हो, ऐसा हम चाहते हैं। वह यन्त्र है ही नहीं। वह अनियंत्रित विचार है जो हम विश्व में फैलाना चाहते हैं और जिसे सारे विश्व में फैलाना है, वह सदेह नहीं हो सकता; विदेह ही हो सकता है। इसलिए देह नहीं बना रहे हैं। अगर हम उसे सदेह बनायंगे तो काम जरूर होगा, लेकिन वह विश्व-व्यापी नहीं होगा। एक तरफ तो काम करने के लिए हम पूर्ण रूप से सुसज्ज, सुसंगठित, चुस्त यन्त्र बनाने जा रहे हैं और दूसरी तरफ विश्व-व्यापी ज्ञान-प्रसार के लिए एक विदेही रचना कर रहे हैं। हमारी इस रचना के विषय में जो मानसिक आक्षेप शायद सबके मन:

में आता है, उसके विषय में मैंने यह कहा।

अब अनुभव से जो सूझता है और लगता है कि करना चाहिए, ऐसी कुछ बातें आपके सामने रखता हूँ। इन बातों का पूरा विवरण अपने मन में मैंने नहीं किया। जैसा सूझा, वैसा आपके सामने रखता हूं।

सबसे महत्त्व की चीज यह है जो इस समय बहुतों की अपेक्षा से भिन्न हो सकती है, वह है खादी। जहां जाता हूं, वहां स्वागत में हार मिलते हैं। एक गुजरात छोड़कर, जहां कि बहुत सूत मिला, बाकी सब जगह तो फूल की मालाएं मिलीं।

इस पर से आप समझ जायंगे कि परिस्थिति कैसी है। मेरी हालत तो उस अंधे-जैसी है जिसका वर्णन तुलसीदास ने अपने एक अप्रतिम भजन में किया है। एक मनुष्य था, जो बारिश के दिनों में, श्रावण के महीने में, अन्धा हुआ। अन्धा होने के पहले उसे सारी सृष्टि हरी-भरी दिखाई देती थी। अब क्योंकि वह अन्धा हो गया है, सारी सृष्टि उसके लिए लोप हो गई है तो उसे हरा-ही-हरा रंग सूझता है। तुलसीदासजी कहते हैं कि मेरी दशा उस अन्धे की तरह हो गई है। मुझे परमेश्वर के नाम के सिवा अब कुछ सूझता ही नहीं है। मेरी हालत वैसी ही है। आश्रम में बरसों रहा तो वहां खादी-ही-खादी देखता। दूसरी चीज नजर में नहीं आती थी। अब बाहर निकला हूं तो वहां खादी नहीं देख रहा हूं, इसलिए उसीका ध्यान आता है। आश्रम में खादी ही देखता था तो वह मन पर आरूढ़ थी। अब यहां उसका अभाव देखता हूं तो वही बात चित्त में आती

है। दूसरी सारी बातें फीकी लगती हैं। सम्भव है, यह उस श्रावण के अन्धे-जैसी स्थिति हो। लेकिन मैं अपने को केवल अन्धा नहीं मानता। हमारे सर्वोदय के विचार में खादी का जो स्थान है, वह दूसरी किसी चीज को नहीं है।

काका साहब ने आज सुबह कहा कि आज नहीं तो कल, हिन्दुस्तान को ही नहीं बल्कि सारी दुनिया को खादी अपनानी है। काका साहब का यह वाक्य मुझे ऋषि-वचन-जैसा लगा। ऋषि भविष्य की बात देखता है। उन्होंने बापू के नाम से यह कहा। बापू का उसमें जो है वह है ही, क्योंकि सब उन्हींका है, लेकिन काका साहब का भी दर्शन उसमें पड़ा है। मैं मानता हूं कि न बापू पागल थे, न काका साहब पागल हैं। इसमें ठीक दृष्टि है।

हमारे दूसरे काम भी अच्छे हैं और उन्हें करना चाहिए, लेकिन वे हमारी विचारधारा के प्रतिनिधि नहीं कहे जा सकते, क्योंकि उसके खिलाफ कोई विरुद्ध विचार नहीं खड़ा है। मिसाल के तौर पर कुष्ठ-रोगियों की सेवा होनी चाहिए। वह नहीं करनी चाहिए या दूसरे तरीके से वह सवाल हल हो सकता है, ऐसा कहनेवाला कोई विरोधी विचार कुष्ठ-सेवा के खिलाफ खड़ा नहीं है। ग्राम-सफाई की बात हम आज करते हैं। वह काम भी जरूर करना चाहिए, लेकिन उसके विरोध में कोई विचार खड़ा नहीं है। सब उसे मंजूर करते हैं। वैसी बात खादी की नहीं है। खादी के विरोध में एक विचार-धारा खड़ी है और खद्दर उस विचारधारा के खिलाफ एक बगावत है। सारी दुनिया

यन्त्र-विद्या में विश्वास रखती है। वैज्ञानिक इसे यंत्र-युग कहते हैं, पुराने लोग कलियुग कहते हैं। ऐसी परिस्थिति में जब हम खद्दर की बात करते हैं तो समझना चाहिए कि दुनिया में जो विचारधारा आज चल रही है, उसके खिलाफ हमारा यह बगावत का झण्डा है। यों तो हमने अपना राष्ट्रीय झण्डा भी खादी का बनाया है और कुछ दूसरे रूप में ही क्यों न हो, हमने उसमें चरखे को स्थान दिया है, फिर भी हम उसे भूल-से रहे हैं। यह ध्यान में रहे कि हम दूसरी चाहे हजार बातें करें, लेकिन खद्दर में अगर कामयाब नहीं होते हैं तो गांधीजी के विचारों के प्रतिनिधित्व का दावा छोड़ देते हैं और हार कबूल करते हैं। खद्दर में हार कबूल करें तो दूसरी सेवा भी हम छोड़ दें, ऐसा नहीं है। वह तो हम करें ही, लेकिन वह सारी सेवा हमारे विचारों की दृष्टि से गौण हो जाती है, इसमें मुझे तनिक भी सन्देह नहीं। मैं यह नहीं कहना चाहता कि खद्दर छोड़ने पर हम असत्य या हिंसा का आचरण करते हैं, फिर भी जिस सामाजिक अहिंसा का विचार हम करते हैं, उस तरह की अहिंसा में मैं खतरा देखता हूं अगर हम खादी को अव्यावहारिक मानते हैं।

मैंने इस सम्बन्ध में बहुत विचार किया है और उस पर से जो नतीजा निकाला है, वह आपके सामने रक्खूंगा। यद्यपि मैं जानता हूं कि यह चरखा-संघ की सभा नहीं है; लेकिन जो दृष्टि मैंने आपके सामने रक्खी, वह अगर आपको मंजूर है तो जो विस्तार मैं करूंगा, वह आप मुनासिब समझेंगे और कुछ अप्रासंगिक बात हो रही है, ऐसा नहीं कहेंगे।

तीस साल के बाद भी मैं कातना नहीं जानता, ऐसा तो नहीं कहा जायगा। यद्यपि मैं खुद को उत्तम कातनेवाला नहीं समझता, मध्यम समझता हूं, तिस पर भी मेरा सूत मिल के सूत की बराबरी नहीं करता। ऐसा कच्चा सूत अधिक दाम देकर हम बुनवा तो सकेंगे, लेकिन वह चीज व्यापक नहीं होगी। उसमें बुनाई महंगी पड़ेगी और बुननेवाला भी खुशी से नहीं बुनेगा। जबतक यह स्थिति है तबतक लोग अगर खादी को नहीं अपनाते हैं तो दोष लोगों का नहीं है। खादी को तीस साल तक मौका मिला है। अब भी अगर हम बुनकर को कहदें कि वह कच्चा सूत बुने तो वह चलनेवाला नहीं है। एक जमाना था कि जब आश्रम में पांजन[1] होती थी तब हम दौड़कर उसमें सम्मिलित होते थे। मानो कोई लड़ाई हो। पांजन में जो धागे टूटते थे, उनकी संख्या हम गिनते थे। मुझे याद है कि वह संख्या कई हजार तक पहुंच जाती थी। यह १९२० की बात है। वही अगर हम १९४९ में भी देखते हैं तो समझना चाहिए कि वह काम चलनेवाला नहीं है। इसलिए मैं इस नतीजे पर आया हूं कि हमारे सूत को दुबटना चाहिए जिससे सूत ऐसा मजबूत बनेगा कि हम खुद ही उसे बुन सकेंगे। खुद कातते हैं वैसे ही हम खुद बुन भी लेते हैं, ऐसा होगा तब यह काम आगे बढ़ेगा। जो लोग खुद नहीं बुन सकेंगे, वे दाम देकर

---

१ मांडी लगने का काम। हिन्दी में इस क्रिया को 'पाई' कहते हैं।

बुनवा लेंगे। वह उनको सस्ता भी पड़ेगा। दुबटे सूत को बहुत से लोग तो घर में ही बुन लेंगे। यह एक बात आपके सामने रखना चाहता था। मेरी आपसे अर्ज है कि आप किसी भी काम में क्यों न पड़े हों, आपके आस-पास खद्दर का वातावरण होना चाहिए। अगर वैसा वातावरण नहीं है तो गांधी-विचार की दृष्टि से आपका सारा काम खास कीमत नहीं रखता।

दूसरी बात है सर्वोदय-विचार का परिपूर्ण अमल। उसका समग्र अमल कब होगा, यह तो परिस्थिति पर निर्भर है, लेकिन आज सामाजिक क्षेत्र में जो एक चीज हम कर सकते हैं, वह है छूआछूत का निवारण। वह अबतक हम नहीं कर पाये हैं, यह अत्यन्त दुःख और शर्म की बात है। वैसे मैं दो साल तक भंगी का काम करता रहा। परमेश्वर ने चाहा होता तो उसीको नियमित रूप से प्रार्थना की तरह करता रहता; लेकिन वह तो देहात का भंगी-काम था जो शहर की अपेक्षा बहुत आसान था। शहर का भंगी-काम मनुष्य के लायक ही नहीं होता है। दिल्ली में भंगियों की एक सभा हुई थी, जिसमें श्री जगजीवनरामजी का भाषण हुआ। अपने भाषण में उन्होंने अत्यन्त समत्व बुद्धि से भंगियों को आदेश दिया कि "तुमको यह काम छोड़ देना चाहिए। इसके बिना तुम्हारा उद्धार नहीं होगा। यद्यपि मैं किसी काम को नीच नहीं मानता, फिर भी इस काम को मैं मनुष्य के लायक नहीं समझता।" इस विचार के समर्थन में उन्होंने जो दलील दी, वह सहज समझ में आने जैसी और बड़ी माकूल थी। उन्होंने कहा कि "आजकल की तंगी के जमाने में हर धंधे

में भीड़ हो रही है, स्पर्द्धा हो रही है। ब्राह्मण चमड़े का काम क... लग गए हैं, लेकिन क्या तुम्हारे धन्धे में कभी कोई दाखिल हुआ है? अगर नहीं, तो समझ लो कि इतनी आपत्ति होते हुए भी जब इस काम में दूसरा कोई नहीं आ रहा है तो वह काम मनुष्य के करने लायक ही नहीं है।" फिर मेरी ओर देखकर उन्होंने पूछा, "क्या मैं ठीक कह रहा हूं?" मैंने कहा, "हां, ठीक है।"

अप्पा साहब को आप लोग जानते हैं। जेल में भंगी का काम मिले, इसलिए वहां उन्होंने सत्याग्रह किया था। लेकिन वह अपना अनुभव मुझे बताते थे कि शहर में भंगी का काम वह करने लगे तो दो-चार दिन में ही हार गए। ऐसा काम हम जिस मनुष्य को देते हैं, वह उसे अछूत कहकर ही करवा सकते हैं, क्योंकि उसका दूसरे धन्धों में प्रवेश नहीं है। इस गुलामी से तो हमें उन्हें मुक्त करना ही पड़ेगा। उसके लिए हम सबको भंगी बनना चाहिए या उस काम को ऐसा स्वरूप देना चाहिए कि जिससे हर कोई उसे कर सके।

महाराष्ट्र में जलगांव और धूलिया में वहांके हरि-जन सेवक-संघ की ओर से महीने में एक दिन भंगी का काम करना शुरू किया गया है।

अप्पा साहब ने मुझसे आज कहा कि इसे सर्वोदय के बदले अंत्योदय कहें तो अच्छा है; क्योंकि हमारे भंगी भाई सबसे आखिर के दर्जे के हैं। वास्तव में सर्वोदय शब्द का मूल अंत्योदय की कल्पना में ही है। रस्किन की 'अन्टु दिस लास्ट'

के अनुवाद को बापू ने सर्वोदय का नाम दिया है। सबसे नीची श्रेणी के जो हैं, उनका भी, अंत्यों का भी, उदय सर्वोदय में है। सारी दुनिया का उदय जब होगा तब होगा, लेकिन भंगी का उदय तो होना ही चाहिए। शब्द तो मैं सर्वोदय रखना ही पसंद करूंगा, क्योंकि सर्वोदय में अंत्योदय आ जाता है। केवल 'अंत्योदय' शब्द में भाव यह आता है कि बाकी के लोगों का उदय हो चुका है, लेकिन ऐसा नहीं है। इस कमबख्त दुनिया में उदय किसीका नहीं है। सबका अस्त ही है। किसीके घर में चूल्हा जलता ही नहीं है तो किसीके घर में रोटियां जल जाती हैं। दोनों के चूल्हों का अस्त हुआ है और दोनों को खाना नहीं मिल रहा है। समाज के पैसेदार लोगों के जीवन का परिपूर्ण अस्त कब का ही हो चुका है और जो दरिद्र हैं, उनका तो अस्त ही है। तुलसीदासजी का एक भजन मुझे यहां याद आता है। उन्होंने भगवान् से कहा है कि "प्रीति की रीति आप ही जानते हैं। आप बड़े की बड़ाई दूर करते हैं और छोटे की छोटाई दूर करते हैं। यही आपकी प्रीति की रीति है।" बड़ों की बड़ाई कायम रखना उन पर प्रीति करना नहीं है। धनवालों की बुद्धि जड़ धन की संगति से जड़ और निस्तेज बन जाती है। जो जड़ बन गए हैं, उनका और जिनको खाने को नहीं मिलता है उनका, दोनों का ही उदय होना बाकी है। इसलिए शब्द तो 'सर्वोदय' ही रहे, लेकिन फिक्र अंत्योदय की भी रक्खें। यह हुआ दूसरा विचार।

तीसरा विचार है अपरिग्रह का। उसका जिक्र पिछले साल

मैंने किया था। जैसे भंगीपन को मिटाना है, वैसे ही परिग्रह को भी मिटाना है। यह अपरिग्रह-व्रत से ही हो सकता है। बाबूजी (राजेन्द्रप्रसादजी) ने सुबह कहा कि कुछ लोगों का विचार अपरिग्रह का है तो दूसरे कुछ लोगों का अपहरण का। अपहरणवादी कहते हैं कि हमारे विचार का कुछ तो प्रयोग एक देश में हमने करके बताया है। आपका अपरिग्रह-विचार चलेगा, इसमें हमारी श्रद्धा नहीं है। वे क्या कहते हैं, इसे हम छोड़ दें। लेकिन हमारे देश की हालत ऐसी है कि अगर हम अपरिग्रह-व्रत का अमल न करें तो संघर्ष टल नहीं सकता। मैंने अजमेर में देखा कि मारवाड़ियों और सिंधी शरणार्थियों के बीच द्वेष भावना भरी है। अब वह कम हो रही है, क्योंकि सिंधी व्यापारी वहां से हट रहे हैं। मैंने वहां कहा था कि हिन्दुस्तान में कभी हिंदू-मुसलमानों के बीच, तो कभी ब्राह्मण-ब्राह्मणेतरों के बीच, तो कभी सिन्धियों और मारवाड़ियों के बीच, झगड़े होते ही रहेंगे। जबतक हिंदुस्तान की आज की दुर्दशा कायम रहेगी, जबतक अन्न की उत्पत्ति नहीं बढ़ेगी, द्वेष का यह जहर किसी-न-किसी रूप में कायम रहेगा। झगड़े मिटेंगे नहीं, हिंसा टलेगी नहीं। मैं गणित-प्रेमी रहा, इसलिए गणित की भाषा में, लेकिन कुछ सख्त शब्दों में मैंने कहा कि अगर हिन्दुस्तान में थोड़ा सुख का अनुभव लोग लेना चाहते हैं तो दस करोड़ को कत्ल कर देना चाहिए, तभी बची हुई सामग्री में बाकी के लोगों को आधिभौतिक सुख मिलेगा।

मतलब शरीरश्रम के साथ अपरिग्रह-व्रत और अपरिग्रह के

साथ शरीरश्रम, दोनों एक दूसरे के साथ आते हैं। एक ही चीज के ये दो पहलू हैं। गए साल अपरिग्रह की बात हो रही थी। तब यह पूछा गया था कि किसकी कितनी जरूरत हैं, यह कौन तय करे? तब मैंने कहा था कि जिसकी जरूरत हो, वही तय करे। हमारे पास धन नहीं है, इतने से हम अपरिग्रही नहीं बन जाते। हमारे पास दूसरा भी परिग्रह पड़ा है। पैसे नहीं तो ऐसी पुस्तकें पड़ी हैं जिनकी एक बार ही जरूरत पड़ती है, बाकी हमेशा बंद ही पड़ी रहती हैं। यह एक तरह का परिग्रह ही है। इस तरह हमें अपने जीवन का शोधन करना चाहिए।

परिग्रह का एक दूसरा भी पहलू है। हम यह मान लेते हैं कि खुद के लिए हम परिग्रह न करें; लेकिन संस्थाओं के लिए कर सकते हैं। हिंसावादी अपने व्यक्ति के लिए हिंसा नहीं करना चाहता; लेकिन समाज और राष्ट्र के लिए हिंसा करने में पाप नहीं समझता। हम संस्था के लिए परिग्रह क्षंतव्य मानते हैं। मैं एक और मिसाल दूं। चरखा-संघ का पैसा बैंक में पड़ा रहता है, जिसका व्याज उसे मिलता है। सोचने की बात है कि व्याज मिलता कहां से है? वह पैसा दूसरे धंधों में लगाया जाता है, इसलिए व्याज मिलता है। चरखे के लिए दिया हुआ इयरमार्क्ड पैसा गो-सेवा-जैसे अच्छे काम में नहीं लगाया जा सकता, यह मर्यादा हम मानते हैं और यह ठीक है, लेकिन बैंकों द्वारा दूसरे धंधों में वह लगाया जा सकता है, लगाया जा रहा है, यह एक महान् आपत्ति है। यह धन-लोभ ही है, चाहे संस्था के नाम से ही क्यों न हो। इसी तरह हमने कस्तूरबा कोष में फंड इकट्ठा

किया है और अब गांधीजी के स्मारक में किया जा रहा है। पैसे की जरूरत ही क्यों होनी चाहिए? और अगर पैसे की जरूरत है और इकट्ठा किया गया है तो साल-दो-साल में वह खत्म करना चाहिए। पर यह बनता नहीं और बैंक में पैसा रखकर व्याज लेने की बात चुभती नहीं, उसमें हम दोष नहीं देखते, कारण, हम रहते ही ऐसे समाज में हैं जहां व्याज न लेना मूर्खता माना जाता है। गीता में "त्यक्त-सर्व-परिग्रहः" कहा गया है। सब परिग्रह छोड़ो। अगर हम परोपकार के लिए भी परिग्रह का मोह रखते हैं तो वे सारे दोष हमारे काम में आते हैं, जो एक सांसारिक के काम में आते हैं।

चौथी बात है कन्ट्रोल आदि प्रश्नों की। आजकल सब जगह बहुत तंगी है। तकलीफ है। कन्ट्रोल फिर से लगे तब भी तकलीफ है, कन्ट्रोल उठे थे तब भी तकलीफ थी। दोनों बाजू से दोष हैं। मैंने इस मसले पर बहुत विचार किया। इन दिनों मैं घूमता रहा हूं देखता रहता हूं और देखने से मनुष्य को सूझता भी है। मुझे मौका मिला था तो वर्किंग कमेटी की मीटिंग में और राजघाट की प्रार्थना में भी मैंने कहा कि इसको कुछ हल हो सकता है, अगर हम जमीन महसूल अनाज के रूप में लें। कपड़े का प्रश्न खद्दर से हल हो सकता है। आपको इस सुझाव की परीक्षा करनी चाहिए। अगर यह ठीक लगे तो अपनी अनुकूल राय जाहिर करनी चाहिए। और ऐसा लगे कि मृगजल है तो इसे छोड़ देना चाहिए।

सर्वोदय-समाज-सम्मेलन
राऊ (इन्दौर) ७ मार्च, १९४९

: ७ :

सर्वोदय का स्वरूप

जब मुझे बताया गया कि आप लोग सर्वोदय के बारे में जानना चाहते हैं, तो मैंने सोचा कि आपसे जरूर मिलना चाहिए और बातें करनी चाहिएं, क्योंकि सर्वोदय की दृष्टि के बिना हम ठीक सेवा कर ही नहीं सकते। सर्वोदय की दृष्टि के बिना की गई सेवा या तो किसी एक पक्ष की होगी या खुद की होगी—सच्ची सेवा नहीं होगी, इसलिए सेवा की दृष्टि समझ लेना ज़रूरी है।

गांधीजी की मृत्यु के बाद सेवाग्राम में सभा हुई थी। वहां भविष्य के काम के बारे में विचार-विनिमय हुआ। हमने सोचा कि क्या कोई नई संस्था उनके पीछे शुरू की जाय? क्या गांधी-संघ चलाया जाय? परन्तु यह कल्पना किसीको पसन्द नहीं आई। हिन्दुस्तान में प्राचीन काल से व्यक्तिवाद को स्थान नहीं है। पश्चिम में यह बहुत चलता है! कोई वैज्ञानिक आसमान में किसी एक नए सितारे को ढूंढ लेता है तो उस वैज्ञानिक का ही नाम उस सितारे को दिया जाता है। हिन्दुस्तान की संस्कृति में

यह बात नहीं है। वे केवल विचार को महत्त्व देते हैं। संस्कृत साहित्य पर आक्षेप है कि इसमें अच्छा इतिहास नहीं है। आक्षेप सही है। क्योंकि जो लोग शांकर-भाष्य जैसा महान् भाष्य लिख सकते थे और योगसूत्र-जैसे सूत्र निर्माण कर सकते थे, क्या वे इतिहास नहीं लिख सकते थे? लेकिन उन्होंने इसलिए नहीं लिखा कि वे व्यक्ति को नहीं, बल्कि विचार को महत्त्व देते थे। तो हमने भी सेवाग्राम की उस सभा में सोचा कि हमारी संस्था को किसी मनुष्यका नाम देना ठीक नहीं होगा। इसलिए 'गांधी-संघ' जैसे नामों के बदले 'सर्वोदय-समाज' नाम रखा गया।

संस्था के नाम के सम्बन्ध में एक और बात है। नाम सर्वोदय संघ नहीं, सर्वोदय-समाज रखा गया है। अगर संघ नाम रखा जाता तो एक छोटी-सी संस्था बन जाती। उसमें फिर कोई लिया जाता, कोई न भी लिया जाता। उसके कानून बनते, अनुशासन होता और अनुशासन-भंग की कार्रवाइयां होतीं। संघ तो एक ऐसी संस्था है, जिसमें खास मनुष्यों को ही अवसर मिलता है। उसमें वह व्यापकता और स्वतन्त्रता नहीं होती जो मनुष्य के विकास के लिए जरूरी होती है।

सर्वोदय यानी सबका उदय, यानी किसीका उदय और किसी-का अस्त, ऐसा नहीं। 'सर्वोदय' शब्द बहुत अच्छा है और गांधी-जी का ही वह बनाया हुआ है। 'सर्वभूतहिते रताः' की कल्पना उसमें है। बाइबल में भी वैसा विचार आता है। रस्किन ने उसी का आधार लेकर अपनी 'अन्टु दिस लास्ट' वाली किताब लिखी है। मतलब उसका यह है कि पहली श्रेणीवाले को जैसी रक्षा

की जाती है, वैसी उनकी भी होनी चाहिए जो आखिर वाला है। जैसे परमेश्वर के यहां हाथी को मन तो चींटी को भी कन मिलता ही है। वैसी समानता की दृष्टि सेवक की होनी चाहिए।

इस तरह एक विचार सब के सामने हमने रख दिया। और फिर निष्ठा भी बता दी कि हमें वर्ग-हीन समाज कायम करना है, जो सत्य और अहिंसा के आश्रय से ही हो सकता है। इस तरह प्रतिज्ञा-बद्ध होने पर एक कार्य-क्रम भी बनाया—खद्दर, नई तालीम, कुदरती इलाज, स्त्रियों की सेवा इत्यादि बातें बता दीं बाकी का सब लोगों पर छोड़ दिया।

सर्वोदय-समाज का सेवक क्या करता है, क्या नहीं करता है, यह खुद वही जानता है। मैं या समाज उसके काजी नहीं हैं। वह आजाद है। वह चाहे अकेला काम करे, चाहे संस्था बनाकर करे। उम्र की भी कैद नहीं रखी गई है। एक भाई ने मुझसे सवाल पूछा कि "क्या आठ साल के बच्चे को भी आप सर्वोदय-समाज में लेंगे?" मैंने कहा, "मैं कौन लेनेवाला? और जब भगवान् ने ही उसे ले लिया है तो मैं कौन इन्कार करने वाला? क्या मर्दुमशुमारी में छोटे बच्चों का शुमार नहीं होता? छोटे बच्चे कितना काम करते हैं! अगर कोई बच्चा यह कहे कि मैं अपनी गली को साफ रखता हूं, या खेल में भी असत्य का उपयोग नहीं करता, तो उस बच्चे ने सर्वोदय-समाज का बहुत काम किया।" एक भाई ने पूछा था, "क्या सर्वोदय-समाज का सेवक सिपाही के नाते लड़ाई में शरीक हो सकता है?" दूसरे एक साथी ने पूछा—"क्या शराबी भी सर्वोदय-समाज

हो सकता है ?" मेरा जवाब है कि अगर कोई शराबी भी है और सच्चे दिल से कोशिश कर रहा है, तो वह भी सर्वोदय समाज का सेवक हो सकता है और उसकी कोशिश कैसी है उसका फैसला वही करनेवाला है—मैं नहीं।

कुछ लोग पूछते हैं, "बिना संघटन के काम में प्राण कैसे निर्माण होगा ?" सवाल ठीक है, लेकिन उसमें मोह पड़ा है। एक ईसाई भाई मुझसे सेवा के बारे में मार्गदर्शन चाहता था। मैंने छोटी-मोटी कुछ सूचनाएं तो दीं, लेकिन एक खास सूचना यह दी कि "डोन्ट ऑर्गेनाइज़"—संघटन मत बनाओ। उसने बताया कि सेंट फ्रांसिस भी यही कहता था।

आजकल जो उठता है, वह अपना अखिल-भारतीय संघटन करना चाहता है। हमारे वर्धा में मातंग (मांग) जाति की अखिल भारतीय परिषद हुई। वैसे वह जाति केवल महाराष्ट्र में ही है, और उस सभा में तो वर्धा के इर्द-गिर्द के ही लोग इकट्ठा हुए थे। लेकिन उसको उन्होंने अखिल-भारतीय कहा। मैंने कहा, अखिल विश्व क्यों नहीं कहते ? लेकिन आजकल जो काम शुरू होता है, अखिल भारतीय नाम से शुरू होता है, फिर उसकी दस-पांच प्रांतीय शाखाएं होती हैं। फिर दस की सौ शाखाएं जिलों की हो जाती हैं। लेकिन पत्थर के कितने भी टुकड़े किये जायं तो भी उसमें से आटा थोड़े ही मिलने वाला है ? उन दफ्तरों में झाड़ू कौन लगावेगा ? जहां शाखाएं खोलने का संघटन चलता है, वहां सेवा का कहीं काम ही नहीं हो पाता। यह पद्धति ही गलत है।

सर्वोदय-समाज की स्थापना करनी हो तो क्या करना चाहिए ? मुझमें अगर द्वेष है, मत्सर है, तो उसे दूर कर देना चाहिए। जिसके प्रति मत्सर हो, उसके पास जाकर दोस्ती कर लेनी चाहिए। इस तरह सर्वोदय-समाज का काम व्यक्तिगत तौर पर शुरू हो जाता है। फिर आहिस्ते-आहिस्ते दो-चार मित्र तैयार हो जाते हैं और धीरे-धीरे गांव हो जाता है। फिर दो-चार गांव मिल कर काम कर सकते हैं। धीरे-धीरे सारा विश्व और सारा ब्रह्मांड भी संघटित हो सकता है। लेकिन यह संघटन नीचे से, भीतर से और स्वाभाविक रूप से हुआ समझा जायगा। हमें समाज की ऐसी स्थिति कायम करनी है कि जिससे उसकी अंतःशुद्धि हो सके। जगह-जगह रत्न पड़े हों तो उन्हें सूत्र में बांधा जा सकता है। लेकिन माला के लिए पहले रत्न का होना जरूरी है, सूत्र का नहीं। इसलिए अभी फिक्र इस बात की है कि जगह-जगह सर्वोदय-समाज के लोग निर्माण होने चाहिएं।

अगर केवल विचार देने के बजाय हम संघटन करने बैठेंगे तो हमारे संघटन में जो शरीक होंगे वे ही हमारे रहेंगे। मुझे ऐसा नहीं चाहिए। जो खद्दर पहनता है वह, और जो नहीं पहनता है वह, जो शराब पीता है वह, और जो शराब नहीं पीता है वह, ये सब मेरे और मैं उनका। उनके साथमें एकरूप होना चाहता हूं। संघटन से यह संभव नहीं। मैंने यह अपने जेल के अनुभव से पाया है। नर्मदा और गंगा के सभी पत्थर समान होते हैं। नर्मदा के पत्थर को भले हम शंकर कहें, लेकिन कहने भर से कुछ नहीं होता। मैंने जब यह महसूस किया तो बाहर आने पर

निश्चय किया कि मैं किसी संस्था का सदस्य नहीं रहूंगा । उससे मैंने एक अद्‌भुत ताकत का अनुभव अपने भीतर किया । संस्था में रहता तो मैं किसी कोने में पड़ा रहता । भले ही वह आश्रम ही क्यों न हो। आज मैं अपने को दुनिया के मध्य में पाता हूं।

इसका यह अर्थ नहीं है कि संस्था बनानी ही नहीं चाहिए। जरूरत पड़ने पर सर्वोदय-समाज के लोग छोटी-सी संस्था बना सकते हैं। लेकिन ऐसी संस्था संघटन नहीं, बल्कि एक व्यवस्था भर होगी, जैसे किसी परिवार में होती है । तो वैसी संस्था में चार-छः कार्यकर्त्ता साथ रह कर काम कर सकते हैं । आपस में मिल कर काम करने के लिए किसी एक तन्तु की जरूरत होती है। और वह तन्तु है, सत्य और अहिंसा।

यंगमेन्स क्रिश्चियन एसोसिएशन,

दिल्ली, १ फरवरी, १९४९

: ८ :

सर्वोदय की बुनियाद—सत्यनिष्ठा

आप लोग जानते हैं कि सर्वोदय-समाज की कल्पना आजकल निकली है। लोग मुझसे पूछते हैं कि "इस समाज की संघटना आप किस प्रकार करने जा रहे हैं?" मैं जवाब देता हूं कि देश में आज कई संस्थाएं हैं। उनमें और एक संस्था खड़ी करके मुझे वृद्धि नहीं करनी है। जीवन को दिशा देनेवाला एक विचार अपने खुद के जीवन में दाखिल करना और दूसरे भाई-बहनों को वह समझाना, इतनी ही कल्पना है। वह विचार अगर एक-एक व्यक्ति के जीवन में दाखिल हो जायगा तो आग के जैसा अपने आप फैल जायगा। उसके बदले यदि संस्था खड़ी की जाय तो उसमें स्पर्धा, अभिनिवेश आदि दोष आने की संभावना रहती है। मैं उससे बचना चाहता हूं। समाज अच्छी तरह संगठित होना चाहिए। कुटुंब में समाज-निष्ठा से जुड़ा हुआ समाज रहता है, वैसा समाज चाहिए। लेकिन कुटुंब में उस कुटुंब को ही देखने की वृत्ति रहती है, इसलिए संकुचितता आती है। उस दोष को छोड़ कर मेरा दृष्टांत लीजिए, तब मेरी कल्पना आप समझ सकेंगे।

पांथिक बंधनों के कारण जब लोग एक जगह आते हैं तब उनकी कल्याण करने की शक्ति कुंठित होती है, ऐसा मैं मानता हूं। जब वे सहज भाव से एकत्र होते हैं, स्थूल सम्बन्ध को गौण स्थान देते हैं, मत (राय) की अपेक्षा मनुष्य को ज्यादा महत्त्व देते हैं, मनुष्य को मनुष्य के तौर पर पहचानते हैं, तब कल्याण करने की शक्ति बढ़ती है। मैंने ऐसी कई संस्थाएं देखी हैं, जिनका आरम्भ उत्तम हेतु से हुआ, लेकिन उनके कार्यों में से ही संस्था में दोष उत्पन्न होने लगे। फिर उन दोषों का बचाव किया जाता है। वे दोष गुप्त भी रखे जाते हैं। फिर वृत्ति बदल जाती है और टुकड़े होने लगते हैं। मुझे टुकड़े नहीं चाहिएं। अखण्ड आनन्द का अनुभव मुझे लेना है और वह भी केवल मानसिक नहीं, क्योंकि वह मैं ले ही रहा हूं, प्रत्यक्ष क्रियात्मक। इसलिए कोई किसी भी धर्म का या पंथ का हो, मैं हरेक को मनुष्य के नाते देखना चाहता हूं वह भी मुझे वैसा ही देखे, तभी कल्याणकारी सेवा होगी। विश्व-कल्याणकारी सेवा मनुष्य के हाथ से हो, यही मेरी इच्छा है।

सर्वोदय-समाज की कल्पना क्या है? सबमें मैं हूं और मेरेमें सब हैं। इसलिए मैं मेरे निजी जीवन में, व्यापार आदि में, सामाजिक जीवन में, और हर जगह असत्य का व्यवहार नहीं कर सकता। क्योंकि सब जगह अगर मैं हूं तो असत्य कैसे शोभा देगा? कैसे छिपाऊं और किससे छिपाऊं? जिससे छिपाना है, वह भी मैं ही हूं न?

यह महान् सत्यनिष्ठा सर्वोदय की बुनियाद है। कुछ लोग कहते हैं कि इस निष्ठा से सर्वोदय-समाज में अधिक लोग नहीं

आयंगे। मैं कहता हूं कि ऐसा कहनेवाला भगवान् की जगह लेना चाहता है। मैं वह जगह नहीं ले सकता। सब मानवों में शुभ प्रेरणा क्यों पैदा नहीं होगी? होगी ही, ऐसी मैं आशा रक्खूंगा। लेकिन मान लीजिए कि वैसी प्रेरणा किसी को भी नहीं हुई और सर्वोदय-समाज हवा में ही रह गया, तब भी यह अव्यक्त कल्पना विश्व-कल्याण करेगी। इसके विपरीत सत्यनिष्ठा-विहीन बहुत बड़ी संख्या किसी समाज में शामिल हुई तो भी विश्व-कल्याण की दृष्टि से उसका तनिक भी उपयोग नहीं होगा।

गांधी-तत्व-ज्ञान-मंदिर, धुलिया

२ जनवरी, १९४९

: ६ :

सर्वोदय-समाज—एकमात्र तारक शक्ति

अभी मैं सर्वोदय-प्रदर्शिनी के लिए जयपुर आया था। यहांसे वापस लौटते समय यहां आज रुक गया था, यहां की प्रार्थना में सम्मिलित होने के लिए। हमने यहां बहुत दफा एकत्र प्रार्थना की है। बीच में दो माह यहां मैं नहीं आ सका था। आज मुझे फिर से आपके साथ प्रार्थना करने का मौका मिला है।

अभी दुनिया की स्थिति बहुत सोचने के काबिल है। जिधर देखो उधर अशांति और झगड़े चल रहे हैं। यहूदियों और अरबों का झगड़ा जैसा था, वैसा ही जारी है। चीन में यादवी युद्ध शिखर तक पहुंच गया है। डच लोगों ने नये सिरे से वहां के स्वातंत्र्यवादियों पर हमला किया है। इतने सब नये-नये झगड़े उठने के साथ पुराने झगड़ों के स्मरण भी ताजे किये जा रहे हैं। अपने प्रतिपक्षी को युद्ध के गुनहगार समझकर फांसी पर चढ़ाने का नाटक जापान में हो रहा है, मानो युद्ध के गुनहगार ये जापान-वाले ही थे और उनको फांसी पर चढ़ानेवाले ये सब शांति के दूत ही हैं, या उन्हें फांसी पर चढ़ाने से दुनिया में शांति स्थापित होने

वाली है।

यहां हिन्दुस्तान में भी काश्मीर के मामले में हिंसा का आश्रय लेना पड़ा है। उसमें किसका कितना दोष है, यह दूसरी बात है, पर अहिंसा से काश्मीर का मामला तय नहीं हो सका, यह दुःख की बात है।

वैसे हिन्दुस्तान में इस वक्त राजकीय एकता तो बढ़ रही-सी दिखती है। यहां छोटे-छोटे राज्य मिटकर विशाल समूह बन रहे हैं। लेकिन राजकीय एकता से भी बढ़कर जो मानसिक एकता है, वह उतनी नहीं दीख रही है। मैं बहुत मिसालें नहीं दूंगा। हमने मध्यभारत का एक प्रांत तो बना लिया है, लेकिन वहां इंदौर-वाद और ग्वालियर-वाद चल रहा है। हैदराबाद का मामला कुछ हल होने पर है तो वहां भी कांग्रेस में दो पक्ष हो गये हैं।

इस तरह से भेद-बुद्धि जोर कर कर रही है। विद्यार्थियों को अपने-अपने जाल में पकड़ने के लिए तरह-तरह की युक्तियां काम कर रही हैं, मानो विद्यार्थी कोई मछलियां ही हैं। मजदूरों के मामले में भी भेद-बुद्धि बढ़ रही है और मामला सुलझने के बजाय उलझ ही रहा है। भाषावार प्रांत-रचना का सवाल एक सीधा-सादा सवाल था, पर उसको भी हम सुलझा सके हैं? किसी को यह नहीं सूझता कि सामनेवाला जो कहता है वह मंजूर कर लिया जाय। इस भाषा के दो-चार लाख लोग उस भाषा के प्रांत में रह गये तो उससे क्या हानि होनेवाली है? जबकि हमने सारी सत्ता केंद्र को सौंप दी है तो सामान्य सीमा,

जो दूसरे को मान्य हो, कबूल करने में कौन-सा नुकसान है ? लेकिन वह नहीं हो रहा है। आग्रह के कारण मामला सुलझता नहीं है और फिर कमीशन और कमिटियां विठाने की नौवत आती है। हिंदी-हिंदुस्तानी का झगड़ा केवल नाम पर हो रहा है। रूप का तो उसमें कोई खास सवाल ही नहीं है। पर कोई यह नहीं सोचता कि आखिर राष्टभाषा किसलिए है ? इसी लिए न कि देश में एकता कायम हो ? फिर जो चीज हमने एकता के लिए निकाली है, उसीमें झगड़ा क्यों ? लेकिन आग्रह नहीं छूटता। यह समझ में नहीं आता कि आग्रह को शक्ति भी मर्यादित होती है, और जब छोटी चीजों में वह खर्च हो जाती है तो वड़ी चीजों के लिए फिर वच नहीं पाती। ईसामसीह का एक वचन मुझे इस समय याद आ रहा है और कल ही क्रिसमस का दिन है, इस लिहाज से भी वह वचन चिंतनीय है। "एग्री विद दाइन एडवरसरी क्विक्ली"—अपने विरोधी की बात फौरन मानो।

लेकिन दुनिया में यह अभी नहीं हो रहा है। यह सारा बयान मैं इसलिए नहीं कर रहा हूं कि आपके चित्त पर निराशा अंकित करूं। मैं निराशावादी नहीं हूं, क्योंकि मैं जानता हूं कि मानव का आत्मा परम शांत और भेदरहित है। और यह जो अशांति और भेद का आभास हो रहा है, वह उसकी परम शांति में नगण्य है। फिर भी स्वच्छ कपड़े पर जरा-सा धव्वा भी ध्यान खींच लेता है। जब जागतिक युद्ध चल रहा था तब भी मैं निराश नहीं था। मैं तो यही मानता

इस तरह सेव्य और सेवक दोनों जब सारे संकुचित अभिमानोंको छोड़कर एकत्र आते हैं तब सर्वोदय होता है, विश्व-मंगल होता है, सबका उत्थान होता है, गीता जिसको 'सर्वभूतहित' कहती है, वह उससे संपन्न होता है।

हम लोगों ने शब्द बहुत व्यापक लिया है। 'सर्वमानवहित' कहना भी हमको अच्छा नहीं लगता। 'सर्वभूतहित' यही भाषा हमारे हृदय को जंचती है, हृदयंगम होती है। लेकिन मानव का कार्य मानव से ही शुरू होगा। इसलिए सर्वमानवहित सिद्ध करना, यही प्रत्यक्ष कार्य हम कर सकते हैं। उसमें से ही भगवान् की कृपा से सर्वभूतहित सिद्ध होनेवाला है। यह एक ऐसा ध्येय है कि जिससे हर एक नवयुवक को उत्साह मालूम होना चाहिए। हिंदुस्तान में स्वराज्य नहीं था, दूसरों का राज्य था। आपके इस निजाम के राज्य में भी एक विषम सत्ता काम कर रही थी। वह अब गई है। हिंदुस्तान के ऊपर का भी बोझ गया है। इससे एक निषेधक कार्य हुआ है। लेकिन अब कुछ विधायक ध्येय हमारे सामने होना चाहिए। अपने ऊपर का एक बोझ हटाना है, इस निषेधक लेकिन समान ध्येय के कारण जिस प्रकार सब लोग मिल-जुलकर काम कर रहे थे, वैसे अब एक विधायक ध्येय, विश्व-मंगल का ध्येय, हमको सिद्ध करना है। सर्वोदय सिद्ध करना है, यह बात नवयुवकों के सामने रहनी चाहिए और ऐसा ध्येय सामने रखकर उनको अपनी सारी शक्ति इस ध्येय की सिद्धि के काम में लगा देनी चाहिए। हमारा सारा मनन, हमारा सारा चिन्तन,

हमारा आचरण और हमारा सारा साहित्य इस ध्येय की सिद्धि के लिए खर्च होना चाहिए। काया, वाचा, मन से, दिल खोलकर, अगर हम इस ध्येय की सिद्धि के लिए प्रयत्न करेंगे तो यह ध्येय हम प्राप्त कर लेंगे, इसमें मुझे जरा भी शंका नहीं है। क्योंकि आज सारी दुनिया वहुत नजदीक आ गई है। एक दूसरे का एक दूसरे पर अति शीघ्र परिणाम होने जैसी स्थिति इस समय है।

लोग मुझे पूछते हैं—"दुनिया में हिंसा की हवा वह रही है, हिन्दुस्तान उससे कैसे वचेगा?" मैं उनसे कहता हूं हिन्दुस्तान में हम अहिंसा की हवा निर्माण करेंगे, दुनिया उसमें से कैसे वचेगी?" दुनिया का मुझ पर असर होता है, ऐसा कहने वाले से मैं कहता हूं, "अरे बुद्धू, दुनिया का अगर मुझ पर असर होता है तो मेरा भी दुनिया पर असर होता है, इतनी वात भी तू नहीं समझता है?" और इस दुनिया में सत्त्वगुण की जो ताकत है, वह रजोगुण में या तमोगुण में हो ही नहीं सकती। जिसका वल सत्त्वाधिष्टित है, उसीका परिणाम सारी दुनिया पर होनेवाला है। जिसका वल रजोगुण का है या तमोगुण का है, उसका परिणाम सत्त्वगुण पर होना नामुमकिन है। तू अच्छी तरह से ध्यान में रख कि रजोगुण में वहुत हुआ तो जोश रहता है। लेकिन जोश यद्यपि रहता है, फिर भी बुद्धि नहीं होती। और जिसमें बुद्धि नहीं है, ऐसा विना अकल का जोश आखिर परास्त हो जाता है। बुद्धि के सामने उसका कुछ भी नहीं चलता। सत्त्वगुण में बुद्धि है और इसलिए हिन्दुस्तान अगर सत्त्वनिष्ठा का एक संकल्प निर्माण करेगा तो वह वलशाली होगा।

आज दुनिया हिंसा से इतनी परेशान है कि इस तरह के संकल्प के लिए विचारवान लोगों के मन अनुकूल हो गये हैं। इस दशा में हिन्दुस्तान का संकल्प सारी दुनिया में फैल सकता है। वह फैलाने की हिम्मत हम रक्खें और काम में लग जायं।

सरस्वती-भवन, औरंगाबाद,

२३ मार्च, १९४९

: १३ :

सर्वोदय-विचार का विवरण

आप जानते हैं कि आजकल मैं सर्वोदय-समाज की कल्पना का प्रचार करता हुआ हिन्दुस्तान में घूम रहा हूं। जिस काम के लिए यहां आया हूं, वह भी सर्वोदय का ही एक हिस्सा है। इसलिए सर्वोदय की कल्पना आपको थोड़े में समझा दूंगा।

लोग पूछते हैं कि आपने यह नया शब्द क्यों निकाला? लेकिन दर असल यह नया शब्द नहीं है। गांधीजी ने कई साल पहले इसका उपयोग किया है। लेकिन इस समय नये सिरे से इसका व्यापक प्रचार किया जा रहा है। लोगों में भी यह शब्द चल पड़ा है। लेकिन सर्वोदय के अर्थ की ठीक कल्पना बहुत लोगों को अभी तक नहीं आई है। और जहां अर्थ ही ठीक तरह से मालूम न हो, वहां उसके अमल का विचार दूर की चीज है।

सर्वोदय शब्द अगर इस समय न आया होता तो स्वराज्य-प्राप्ति के बाद या तो हम ध्येयविहीन बन जाते या गलत ध्येय में फंस जाते। हमारा ध्येय क्या होना चाहिए, इसका ठीक दर्शन 'सर्वोदय' शब्द कराता है। आज तक 'स्वराज्य' शब्द से

प्रेरणा मिलती रही। दादाभाई नौरोजी, लोकमान्य तिलक महात्मा गांधी आदि लोगों ने स्वराज्य-प्राप्ति के लिए तपस्या की। कांग्रेस ने और दूसरे लोगों ने ७०-८० साल इसके लिए मेहनत की। और अब एक तरह का स्वराज्य हमें प्राप्त हुआ है। स्वराज्य-प्राप्ति के पहले यह शब्द हमें प्रेरणा दे रहा था। लेकिन अब हमें कोई ऐसा दूसरा शब्द चाहिए जो हमारे व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में हमको प्रेरणा देगा। सर्वोदय ऐसा शब्द है। स्वराज्य का काम भी सर्वोदय के अंतर्गत ही था। क्योंकि जबतक यह देश दूसरे के पंजे में गुलाम पड़ा था तबतक सबका उदय होना असंभव था। इसलिए पहले देश को आजाद करने की ही जरूरत थी। वह सर्वोदय की पहली सीढ़ी थी। इसके आगे सबका उदय हो, इस ध्येय को सामने रखकर हमारे शिक्षण में, सभ्यता में और नित्य के व्यवहार में हमें खयाल रखना चाहिए।

सर्वोदय की कल्पना हमारे प्राचीन ग्रंथों में भी मिलती है। ऋषि गाता है—"सर्वे नः सुखिनः संतु।" उसने 'सब' शब्द में केवल मानव-समाज का ही समावेश नहीं किया है, बल्कि उन जानवरों का भी समावेश कर दिया है, जिनको मनुष्य ने अपने कुटुंब का एक हिस्सा मान लिया था। सब प्राणियों को तो हम अपने कुटुम्ब में स्थान नहीं दे सकते थे। जिनका उपयोग हम कर सकते हैं, उनकी ही रक्षा की चिंता हम कर सकते हैं। बाकी सब प्राणियों की रक्षा करने के लिए तो भगवान बैठा है। मनुष्य गाय-बैलों का उपयोग करता है, इसलिए उनको

उसने अपने कुटुम्ब में स्थान दिया। ऋषि कहता है—"शं नो अस्तु द्विपादेः, शं नो अस्तु चतुष्पादेः" दो पांववालों का और चार पांववालों का (मनुष्य का और गाय का) भला हो।

एक जमाना था जब गायों की अच्छी रक्षा होती थी। दिलीप-जैसा राजा गाय की सेवा में किस तरह निष्ठापूर्वक तन्मय हो गया था, उसका सुन्दर वर्णन महाकवि कालिदास ने रघुवंश में करके गोसेवा का एक अद्भुत आदर्श पेश किया है। ऐसा ही चरित्र भगवान् कृष्ण का है। इसलिए हिन्दुस्तान में गोपालकृष्ण का नाम रूढ़ हुआ। लेकिन यह बात आगे नहीं रही और हम गायों की उपेक्षा करने लगे। प्राणियों की बात छोड़ दो, मानव-मानव के साथ भी हम कठोरता से व्यवहार करने लगे और इसी कारण यह देश बरसों से परतन्त्र रहा।

अब स्वराज्य आया है तो सर्वोदय का ध्येय हमको सिद्ध करना है। पहले तो हमको मानवों के साथ प्रेम से व्यवहार करना सीखना है। जहां एक मानव दूसरे मानव पर आक्रमण नहीं करता है, जहां सबकी फिक्र की जाती है, जहां उच्च-नीच-भाव नहीं है, ऐसा देश दुनिया में शायद ही कोई होगा।

हमारे धर्म में चातुर्वर्ण्य के नाम पर उच्च-नीच-भाव पैदा हो गया। मूल में चातुर्वर्ण्य एक सहकारी संस्था के तौर पर बना था—शुरू में केवल एक ही वर्ण था, ऐसा वर्णन उपनिषदों में आता है। उस वर्ण से सारे काम पूरे नहीं हो सके तो उसकी मदद के लिए क्षत्रिय वर्ण और बाद में वैश्य वर्ण बनाया गया। उससे भी काम पूरा नहीं हो सका तो शूद्रवर्ण-यानी सबका पोषण

करनेवाला वर्ण-निर्माण हुआ, ऐसा वर्णन आता है। मतलब, ये सारे वर्ण परस्पर पूरक हैं और हरेक वर्ण की योग्यता दूसरे सब वर्णों के बराबर है, बशर्ते कि हरेक अपना काम निष्ठापूर्वक करे। और जो अपनी सेवा भगवान् को अर्पण करता है, वह चाहे किसी भी वर्ण का क्यों न हो, मोक्ष का अधिकारी बनता है, यह गीता में बताया है। एक मामूली झाड़ू लगानेवाला और एक महान् ज्ञानी, दोनों अगर अपना काम दक्षता से और ईश्वर-समर्पण बुद्धि से करते हैं तो दोनों की योग्यता समान है और दोनों मोक्ष के अधिकारी बनते हैं। लेकिन यह तो मूल शास्त्र-कार की कल्पना हुई। आगे उसमें दोष उत्पन्न हुए और उच्च-नीच-भाव दाखिल हुआ। सबसे श्रेष्ठ ब्राह्मण, उससे नीचे क्षत्रिय इत्यादि जब सीढ़ियां बन गईं तब हिन्दूधर्म का ह्रास हुआ।

इस हालत में दूसरे धर्मों के लोग यहां आये तो उनके धर्म का प्रचार यहां शीघ्रता से हुआ। क्योंकि इस तरह का ऊंच-नीच-भाव उनके धर्मों में नहीं था। सबके साथ उन्होंने समा-नता से व्यवहार किया और यहां के लोगों का प्रेम संपादन किया। मुसलमानों ने या क्रिस्ती लोगों ने अपने धर्म का प्रचार यहां केवल सत्ता के बल पर किया, यह पूर्ण सत्य नहीं है। क्रिस्ती लोग एक हजार साल पहले दक्षिण भारत में आये थे। उनकी सत्ता तो अभी तीन सौ साल पहले यहां कायम हुई थी। इस्लाम का प्रचार मुसलमान राजाओं ने नहीं, बल्कि फकीरों ने किया था। फकीरों का असर उस समय हिन्दुस्तान की जनता

पर कितना था, इसकी कल्पना शिवाजी के उस कथन से मिलती है जिसमें उसने कहा कि "हिन्दूधर्म की रक्षा के लिए मैंने फकीरी ली है।" इतना आदर फकीरों के लिए था। उन्होंने यहां समानता का प्रचार किया। हिन्दूधर्म में फैली हुई विषमता के विरोध में इस्लाम की यह समानता लोगों को आकर्षक मालूम हुई, इसलिए निचली जातियों के लोगों ने इस नये धर्म को स्वीकार किया। ऐसा सब इतिहास है।

यह इतिहास अगर हम ठीक ध्यान में लेंगे तो उसमें से ही सुधार की दिशा मिल सकती है। हम जब सर्वोदय का विचार करते हैं तो ऊंच-नीच-भाववाली यह वर्ण-व्यवस्था दीवार की तरह सामने खड़ी होती है। उसको तोड़ना होगा, तभी सर्वोदय स्थापित होगा। जिस समाज के ऋषियों ने सबका भला हो, इस भावना से आरम्भ किया, उस समाज में आज मानव-मानव के बीच का विषमभाव यहां तक पहुंच गया है कि कुछ मानवों के स्पर्श में भी पाप माना जाता है। इन सारे भेदों को मिटाना होगा।

इस प्रकार जैसे सामाजिक क्षेत्र में काम करना होगा, वैसे आर्थिक क्षेत्र में भी करना होगा। यन्त्रों के कारण आर्थिक विषमता और भी बढ़ी है। कुछ लोगों के हाथ में अधिक सम्पत्ति जमा होती है तो कुछ लोगों को काम ही नहीं मिलता है। मिल का कपड़ा सस्ता पड़ता है, ऐसा लोग मानते हैं। लेकिन मिलों के कारण जो लोग बेकार हो जाते हैं, उनको समाज को ...ना तो पड़ता ही है। उसका खर्च मिलों पर चढ़ाकर

हिसाब कीजिए तो मालूम होगा कि मिल का कपड़ा खादी से कई गुना महंगा पड़ता है। यन्त्रों के कारण यूरोप-अमेरिका जैसे देशों में भी यह हालत हो गई है और आर्थिक विषमता वढ़ी है। सर्वोदय का ध्येय सामने रखकर काम करेंगे तो ही यह समस्या मिट सकती है।

सर्वोदय को सफल वनाने के लिए हिन्दू-मुसलमान आदि जाति-भेदों को भी मिटाना होगा। ये अलग-अलग धर्म उपासना के अलग-अलग प्रकार हैं, ऐसा समझना चाहिए। भगवान् अनन्तगुणी है। इसलिए उसकी उपासना के भी अनंत प्रकार हो सकते हैं। उसके कारण हमारे मनमें द्वेष की भावना नहीं होनी चाहिए। इस दृष्टि से हमारी विधान-सभा ने अभी जो निर्णय किया है, वह वहुत महत्त्व का है। इसके आगे धर्म के आधार पर कानून में कोई भेद नहीं किया जायगा, ऐसा उस निर्णय का अर्थ है। मेवों को वसाने का जो काम सरकार कर रही है, वह इस निर्णय को मजवूत वनानेवाला है। वीच में जो गड़वड़ हुई, उस समय ये लोग हिन्दुस्तान के दूसरे प्रांतों में भाग गये थे। अवतक वेघरवार पड़े थे। उनको अपने-अपने घरों में वसाकर सरकार एक अन्याय को दूर कर रही है। इस तरह से सामाजिक भेद-भाव मिटाना और आर्थिक विषमता दूर करना, दोनों मिलकर सर्वोदय वनता है।

इसमें और एक तीसरी कल्पना है। सर्वोदय की दृष्टि से जो समाज-रचना करनी है, उसका आरम्भ अपने निजी जीवन के परिवर्तन से करना है। हम व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन

न असत्य और हिंसा का उपयोग नहीं करेंगे, ऐसी प्रतिज्ञा करनी होगी। समाज में जो विषमता है, उसको हम अहिंसा से ही मिटाना चाहते हैं। समानता तो कम्यूनिस्ट भी चाहते हैं, लेकिन समानता का उनका खयाल हमारी कल्पना से भिन्न है। हरएक गांव और हरएक व्यक्ति स्वावलंबी होना चाहिए, यह उनकी कल्पना में नहीं है। अच्छे साध्य के लिए चाहे जो साधन इस्तेमाल कर सकते है, ऐसा वे मानते हैं। हिन्दुस्तान में अगर यह बात चली तो सर्वोदय तो दूर रहा, हमारा स्वराज्य भी खतरे में आ जायगा। उद्देश्य किसीका कुछ भी हो, बुरे और हिंसक साधनों का उपयोग हम करेंगे ही नहीं, यह मर्यादा अगर न रही तो हिन्दुस्तान खत्म हो जायगा। चीन और ब्रह्म-देश की मिसाल हमारे सामने है।

इसलिए मैं तो कहता हूं कि सर्वोदय की कल्पना से जवानों में उत्साह का संचार होना चाहिए। सारी दुनिया में सर्वोदय को फैलाने का काम इसके आगे करना है। लेकिन जो निज का उद्धार करता है, वही दुनिया के उद्धार का रास्ता खोल देता है। इसलिए सर्वोदय की कल्पना का ठीक अध्ययन करके उसका अपने जीवन में अमल शुरू कर देना चाहिए।

प्रार्थना-सभा, भरतपुर

१२ जून, १९४९

: १४ :

सर्वोदय की मनोवृत्ति

अभी हमने कुछ अच्छे अर्थवाले श्लोक सुने हैं। इनमें से दो श्लोक ऐसे थे, जिनमें यह इच्छा प्रकट की गई है कि "सब का भला हो, सब सुखी और सब आरोग्यवान् हों।" ये बहुत पुराने श्लोक हैं। हम लोगों में से इन्हें जानते हैं और रोज बोलते भी हैं। आजकल हमने गांधीजी का सर्वोदय शब्द चलाया है। यह शब्द नया-सा दीख पड़ता है, मगर इसका सारे-का-सारा भाव ये जो श्लोक हमने बोले हैं, उनमें मिलता है। फिर भी सर्वोदय शब्द नया क्यों लगता है?

सबका भला हो, ऐसा न चाहनेवाले दुनिया में शायद ही कोई होंगे। और जो होंगे भी तो उनकी मनोवृत्ति आसुरी होगी। जिनमें मानवी प्रेरणा होती है, वे सबका भला तो चाहते ही हैं, मगर अपना भला भी चाहते हैं। सबका भला न चाहनेवाले बहुत ही कम होंगे और अपना भला न चाहनेवाले शायद ही कोई मिलेंगे। मगर सबके भले और अपने भले के बीच समन्वय कैसे हो?

हमारी हालत यह है कि हम सबका भला चाहते हैं और

अपना भी। मगर सवाल यह है कि इन दो में से पहली इच्छा हमारी कौन-सी है? अगर पहले दूसरों का भला चाहने की मनोवृत्ति हमारी है तो वह सर्वोदय की मनोवृत्ति गिनी जायगी। अगर इससे उल्टी हमारी मनोवृत्ति है, अर्थात् पहले हमें सुख मिले और बाद में सबको, तो वह सर्वोदय की मनोवृत्ति नहीं है। जिसकी मनोवृत्ति इस प्रकार की है, वह मूलतः अपना ही सुख चाहता है और सबके भले को उसने गौणता दे दी है। मुझे सुख मिलने के बाद यदि सारी दुनिया बाद में दुःखी रहती है तो मेरा सुख भी नहीं रह सकता, यह बुद्धिमान पुरुष बखूबी जानता है। मैं सुखी रहूं, इसलिए सबको सुख मिले, इस तरह की भावना में भी वीर्य नहीं होता। चूंकि इसमें मेरा सुख प्रधान होता है, इसलिए यह निर्वीय भावना हुई। ऐसी भावना से कोई काम नहीं बनता। जिस इच्छा में त्याग की भावना नहीं होती तो वह सुप्त इच्छा होती है। सोया हुआ विद्वान् भी अविद्वान् के बराबर होता है। जो विद्वान् सोया हुआ है उसकी विद्वत्ता का कोई उपयोग नहीं हो सकता। इस प्रकार सुप्त इच्छा भी अनिच्छा के बराबर होती है। सर्वोदय में इच्छा यह रहती है कि पहले सबका उदय हो, उसीमें मेरा उदय होगा। जबतक सबका उदय नहीं होता तबतक मैं अपना उदय नहीं चाहता। एक मां यही कहती है कि जबतक मेरे सब बच्चों को पानी नहीं मिल जाता तबतक मुझे पानी नहीं चाहिए। मान लीजिए, उसके पास एक कटोरा पानी है। वह तबतक अपनी प्यास नहीं बुझायगी जबतक कि सारे बच्चों

की प्यास नहीं बुझ जायगी। अगर पानी शेष नहीं बचता है तो वह खुद ही आंतरिक सुख अनुभव करेगी। यही माता का मातृत्व है।

इसका मतलब यही हुआ कि माता की यह भावना अपने बच्चों के साथ सर्वोदय की भावना है। निस्संदेह उसकी भावना उसका समाज या उसका सर्व अपने बच्चों तक ही मर्यादित है, इसलिए उसकी सर्वोदय की भावना भी मर्यादित है। यह उपमा सर्वोदय का अर्थ प्रकट करने के लिए दी गई है। सारांश यह है कि सबकी भलाई के लिए त्याग करने के लिए तैयार रहना चाहिए और इस त्याग में जो बाह्य दुःख होता है उससे आंतरिक सुख का भी अनुभव होना चाहिए। बाह्य अर्थ में हमको दुःख भोगना होगा, लेकिन आंतरिक अर्थ में तो हम सुखी होंगे। जो लोग अपनी आत्मा का कल्याण चाहते हैं, वे बाह्य कष्टों से कभी घबराते नहीं। जिस समाज में इस तरह की भावना होती है, उसमें भोग प्रधान नहीं, बल्कि त्याग प्रधान होता है। यज्ञ करने के बाद जो अग्नि शेष होती है, उसीसे उसकी तृप्ति होती है, उसमें यह भोग भी अभोग के समान है, क्योंकि वह त्यागमय होता है। "ईशावास्यमिदं सर्वं" के श्लोक में भी यही चीज है कि मनुष्य सब कुछ अपने समाज को दे देता है और जो सहज भाव से उच्छिष्ट मिल जाय, उससे संतुष्ट रहता है। यही सर्वोदय का स्पष्ट अर्थ है। इसी भावना में यदि हम ये श्लोक पढ़ते हैं तो वे सर्वोदय के श्लोक होते हैं। सर्वोदय के लिए मानव में

केवल आसुरी मनोवृत्ति का न होना ही काफी नहीं। उसमें उत्तम मानवी वृत्ति का होना जरूरी है और वह यह कि "मैं सबके पीछे और बाकी सब मेरे आगे।"

राजघाट, दिल्ली

२४ जून, १६४६

: १५ :

सर्वोदय-समाज का सन्देश

आप जानते हैं कि आजकल मैं हिंदुस्तान में घूम रहा हूं। अभी यहां तामिलनाड में कुछ रोज विताये, और भी कुछ रोज देना चाहता हूं। जहां जाता हूं वहां लोगों को सर्वोदय-समाज क्या चीज है, यह जान लेने की उत्सुकता रहती है। यह एक कल्पना अभी हिंदुस्तान में फैल गई है और लोगों को उसके बारे में आशा भी है। लेकिन सर्वोदय-समाज आसमान से नीचे गिरनेवाला नहीं है, हम लोगों को ही उसको बनाना है। सर्वोदय-समाज अगर हम अपने जीवन में नहीं लाते हैं तो उसको दुनिया में नहीं ला सकेंगे। सर्वोदय का अर्थ होता है सबका भला, सबकी उन्नति, समाज में जो लोग पिछड़े हुए हैं, गरीब हैं, दुर्बल हैं, उनका भी समाज में उतना ही स्थान होना चाहिए जितना दूसरे समर्थों का है।

यह सर्वोदय शब्द नया नहीं है। न उसकी कल्पना ही नई है। सर्वोदय के बारे में हम बहुत प्राचीन काल से बोलते आये हैं, सोचते भी आये हैं, "सर्वे नः सुखिनः संतु", सब सुखी हों, कोई भी दुखी न हो, यह वासना सब धर्मों में है। लेकिन

यह विचार यद्यपि हम लोगों में चलता है फिर भी उसका अमल नहीं हुआ है। आज दुनिया में जो कुछ हाल दीख पड़ रहा है वह इसके अनुकूल नहीं है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि यह विचार दुनिया में फैल नहीं सकता है। वास्तव में दुनिया इस वक्त बहुत दुखी है और सबके उदय का रास्ता कोई बतायेगा तो देखना चाहती है। लेकिन लोग एक ऐसे जमाने में आ रहे हैं कि जिसमें उनको यह रास्ता नहीं मिल रहा है। यंत्रयुग आया है, ऐसा लोग बोलते हैं और बहुत बड़े पैमाने पर उत्पत्ति होनी चाहिए, ऐसी इच्छा करते हैं। उत्पत्ति बढ़ाने की कोशिश करते हैं, फिर भी लोगों को खाने को नहीं मिल रहा है। इतना बड़ा यह देश है, लेकिन उसको बाहर से अनाज मंगाना पड़ता है। जैसे अभी हिंदुस्तान में दुःख है, उससे भी ज्यादा दुखी देश चीन है। यहां भी हिंदुस्तान जैसी बड़ी लोकसंख्या है। दुनिया के दूसरे विभागों में भी आम लोग सुखी नहीं हैं। कुछ लोग मौज मजा कर रहे हैं, लेकिन उनको भी सच्चा सुख नहीं मिल रहा है। वे एक कृत्रिम जीवन जी रहे हैं। जो लोग अपने हाथ से काम नहीं करते उनको भूख भी नहीं लगती। खाना हजम नहीं होता है तो अच्छा नहीं लगता है। दूसरों को लूटकर श्रीमान् बने हैं तो हृदय में शांति नहीं मिलती, समाधान नहीं मिलता। मैंने ऐसे श्रीमान् लोग देखे हैं जो रोते हैं, उनको सुख नहीं है। पूछते हैं कि सुख कैसे मिलेगा, वह रास्ता बताइए। शरीर में भूख नहीं, चित्त में समाधान नहीं, समाज में लोग उनको प्रेम-भाव से देखते

नहीं, क्योंकि उन्होंने दुनिया की सेवा नहीं की तो दुनिया भी उन पर प्रेम नहीं करती। तो जिनको आरोग्य प्राप्त नहीं, प्रेम प्राप्त नहीं, शांति प्राप्त नहीं, उनको क्या सुख मिलेगा? इस तरह से जो श्रीमान् लोग दुनिया में पड़े हैं, वे भी सुखी नहीं हैं और जो गरीब मजदूर काम करते हैं, उनको भी सुख नहीं है; क्योंकि उनके जीवन की आवश्यकता पूर्ण नहीं होती। इस तरह सारी दुनिया अभी दुःख का अनुभव कर रही है।

पहले जमाने में सुख के जो साधन थे, उनसे हजारों गुना अधिक साधन इस जमाने में बढ़ गये हैं। आज ही मैं यहाँ भी पाश्चर इन्स्टिट्यूट देखकर आया। वहां लोगों के रोग दूर करने के लिए कई तरह के प्रयोग किये जाते हैं। आप देखेंगे कि वहां जानवरों को रखा गया है। उनके शरीर में रोग निर्माण करते हैं अभ्यास करने के लिए। रोगों का अध्ययन करने के लिए उन बेचारे प्राणियों में रोग पैदा करते हैं और उसमें से इलाज शोधते हैं। उसमें से जो नई-नई औषधियां निकलती हैं, वे समाज को मिलती हैं। लेकिन फिर भी दुनिया में रोग कम हो रहे हैं, ऐसा कोई नहीं कहता। जो कहते हैं, वे यही कहते हैं कि रोग बढ़ रहे हैं। जिन चूहों को या दूसरे जानवरों को पीड़ा दी जाती है, वे अगर पूछें मनुष्यों से कि "अरे इन्सान, क्या तू, हमको पीड़ा देकर सुखी हो रहा है?" तो इसका हम यह जवाब नहीं दे सकेंगे कि हम आरोग्यवान् हो गये हैं। तो फिर जो चूहा पूछेगा कि "हमको भी सताते हो और तुम्हारा भी रोग नहीं मिटता तो यह क्या बुद्धि तुमको सूझ रही है?" तो उसको हम

क्या जवाब देंगे? मतलब यह है कि जिन्दगी कैसे जीना, यह हम नहीं जानते हैं।

हमारे शास्त्रकारों ने हमको बहुत समझाया है कि यह मनुष्य-देह अत्यन्त दुर्लभ है, बहुत पुण्य से मिलता है। मनुष्य-देह को क्यों भाग्य का और पुण्य का लक्षण समझते हैं? इसलिए कि दूसरे जानवर स्वार्थी होते हैं, उनको दूसरे जानवर की सेवा नहीं सूझती, मनुष्य-जन्म में ही सेवा हो सकती है। भूख लगने पर खाने की इच्छा हरएक प्राणी को होती है, वैसे मनुष्य को भी होती है। लेकिन मनुष्य की खूबी यह है कि वह दूसरे को खिलाकर खुद भूखा रह सकता है और भूखों को खिलाकर खुद भूखा रहने में उसको आनन्द का अनुभव होता है। यह आनन्द पशुओं में नहीं है। पशुजन्म पाप भोगने के लिए है और देवताओं का जन्म पुण्य भोगने के लिए है। दोनों में पुरुषार्थ नहीं है। मनुष्य-जन्म पुरुषार्थ के लिए है। उसमें न पाप को भोगना है न पुण्य को भोगना है, बल्कि सेवा करनी है। इसलिए मनुष्य-जन्म अत्यन्त दुर्लभ माना है और देवता भी मनुष्य-जन्म की इच्छा रखते हैं। इस तरह का मनुष्य-जन्म हमको मिला है, लेकिन हम अपना ही स्वार्थ देखते हैं, दूसरों की पर्वा नहीं करते हैं तो शांति कैसे मिलेगी? सर्वोदय का अर्थ यही है कि हमको सबकी फिकर रखनी है।

यहां कूनूर में और ऊटी में गरीब भी पड़े हैं और श्रीमान् भी पड़े हैं, श्रीमान् आनन्द में रहने का आभास कर लेते हैं। लेकिन वे गरीबों की पर्वा नहीं करते। ऐसा ही चलेगा तो

उनको सच्चा सुख नहीं मिलेगा और गरीबों को भी सुख नहीं मिलेगा। इसीलिए भगवान् ने गीता में कहा है कि "हे मनुष्यो, तुम एक दूसरे पर प्रेम करो, एक दूसरे की मदद करो, एक दूसरे की सेवा करो तो तुम्हारा भला होगा।" मानव-समाज परस्पर सहकार से ही उन्नति कर सकता है। जो लोग भाग्यवान् हैं, जिनके पास बुद्धि अधिक है, बल अधिक है, पैसा अधिक है, उनका यह काम है कि दूसरों की रक्षा करें। भगवान् हरेक की परीक्षा कर रहा है। अगर किसी को वह अधिक भाग्यशाली बनाता है तो उसकी परीक्षा करता है। श्रीमान् की परीक्षा वह यह करता है कि उसको पैसा दिया है तो उसका उपयोग वह गरीबों के लिए करता है या नहीं। अगर वह गरीबों की सेवा के लिए पैसे का उपयोग नहीं करता है तो भगवान् की परीक्षा में फेल हो गया। अगर भगवान् किसी को गरीब बनाता है तो उसकी भी परीक्षा करता है। गरीब मनुष्य गरीबी के कारण अगर दीन बन गया तो भगवान् की परीक्षा में फेल हो गया। गरीब को दीन नहीं बनना चाहिए और श्रीमान् को उन्मत्त नहीं बनना चाहिए। इस तरह श्रीमान् और गरीब दोनों की परीक्षा हो रही है।

इसलिए इस छोटी-सी जिन्दगी में हमारी परीक्षा हो रही है, इसका खयाल हमें रखना चाहिए और जो भी थोड़े दिन इस दुनिया में जीना है, सबकी सेवा करके, सब पर प्रेम करके, सबका प्रेम पा करके जाना चाहिए। जिसने दुनिया में पैसा कमाया, लेकिन प्रेम गंवाया, उसने कुछ नहीं कमाया। जिसने

दुनिया में ज्ञान कमाया, लेकिन प्रेम नहीं कमाया, उसने कुछ नहीं कमाया। जिसने दुनिया में बल-संपादन किया, लेकिन सबका प्रेम नहीं संपादन किया, उसने कुछ नहीं संपादन किया। इसलिए भाइयो, सब पर प्रेम करो और सबका प्रेम प्राप्त करो, यही सर्वोदय का संदेश है।

कुन्नूर, कोइम्बतूर
२५ अप्रैल, १९४९

: १६ :

सर्वोदय की दीक्षा

रचनात्मक काम करनेवाले संघ अबतक अलग-अलग अपना काम कर रहे थे। यथाप्रसंग उनमें यद्यपि सहकार भी होता था, फिर भी एकांगी दृष्टि के कारण अहिंसक जीवन का तेज उनमें से पैदा नहीं होता था। इसलिए सब मिलकर सम्मिलित काम करें, इसकी जरूरत महसूस होने लगी। रचनात्मक कार्यकर्त्ता-सम्मेलन में उस तरह का प्रस्ताव भी हुआ। उस प्रस्ताव के अनुसार वे संघ एकीकरण की दृष्टि से सोचने भी लगे हैं। संघ सम्मिलित हों, इसका अर्थ यह है कि कार्यकर्त्ता अपने जीवन में वैसा परिवर्तन करें। इस दृष्टि से हरएक कम-से-कम निम्नलिखित बातों का अमल करें, ऐसा मार्गदर्शन कराया गया है। चरखा-संघ ने इस तरह का प्रस्ताव भी किया है।

(१) नियमित रूप से सूत कातें।

(२) खुद के या कुटुम्ब में कते सूत की और उसकी पूर्ति के लिए प्रमाणित खादी-भंडार की खादी पहनें।

(३) जहां तक बने, ग्रामोद्योगी चीजों का इस्तेमाल करें।

(४) घर में हों तब विशेषतः गाय के दूध का उपयोग करें।

(५) महीने में कम-से-कम एक बार भंगी-काम या ग्राम-सफाई करें।

(६) जहां इंतजाम हो, वहां अपने बच्चों को बुनियादी तालीम दिलावें।

(७) नागरी, उर्दू और कोई द्रविड लिपि का अभ्यास करें।

इनमें से एक-एक का सिलसिलेवार विचार करेंगे।

(१) नियमित कताई के कर्मकांड की इसमें कल्पना नहीं है। जीवननिष्ठा दृढ़ करने के लिए यह एक चिह्नमात्र है। छोटे-बड़े सबसे मिलकर इस तरह की कुछ प्रत्यक्ष कृति करने से शक्ति का साक्षात्कार होता है। यह सर्वोदय की दीक्षा है। बनी बनाई पूनी में से कातने की कल्पना न करें। कपास लेकर तुनाई आदि क्रिया करके पूनी बनाई जाय। यह कातने का ही हिस्सा माना जाय। किसी दिन काता न गया और केवल पूनी ही बनाई तो कोई हर्ज नहीं है। काता हुआ सूत दुबटा करके रखने से काम पूरा हुआ समझा जायगा।

(२) जो उत्तम सूत कात सकते हैं, वे अपने सूत का कपड़ा दूसरों को देकर उनके मोटे सूत का कपड़ा खुद पहनें तो नियम में बाधा नहीं आयगी। स्वावलंबन-सहित परस्पर सहकार संपन्न करना और भी अच्छा है। प्रमाणित खादी-भंडार पूर्ति-मात्र के लिए हो। वही मुख्य ग्रंथ न बने।

(३) ग्रामोद्योगी चीजें बहुत हैं, इसलिए 'बने वहां तक' का शब्द प्रयोग किया है। किसी निमित्त से छुटकारा पाने का

उसमें हेतु नहीं है । नियम की अपेक्षा दृष्टि महान् है। अगर दृष्टि है तो सब नियम आंखवाले बन जाते हैं। दृष्टि के बिना वे अंधे और भार-रूप हो सकते हैं।

(४) गाय के दूध का नियम, ग्वाला दूध में पानी मिला कर जैसे उसको पतला बनाता है वैसे, पानी डालकर हलका बनाया है। मुसाफिरी की दिक्कत उसमें नहीं है। भैंस का विरोध नहीं है। भैंस का कुछ-न-कुछ रक्षण होता ही है। गाय को विशेष रक्षण की आवश्यकता है। उतनी ही उसमें दृष्टि है।

(५) 'हरिजन' और 'परिजन' का भेद अगर नष्ट करना है तो हरिजनों के माने गये कामों की अस्पृश्यता नष्ट होनी ही चाहिए। उसके लिए मान्यता के तौर पर यह नियम है। हरएक गन्दगी करता है और हरएक को उसे साफ करना है। यह रोज का ही काम है। जो उच्च वर्ण के माने गये हैं, वे अगर उत्साह से और निर्मलता से उसमें हिस्सा लेंगे तो एक सामाजिक क्रांति होगी, जिसकी आज बहुत जरूरत है।

(६) बुनियादी तालीम सबसे अच्छी तालीम है, ऐसा जिनका विश्वास है, वे दूसरों के लड़कों में उसे बांटते फिरें और खुद के लड़कों को उससे वंचित रक्खें, इसका कोई मतलब नहीं है। इसीलिए यह नियम शब्दों में ग्रथित करने की भी जरूरत नहीं थी। लेकिन भूतदया के जोश में मनुष्य कभी-कभी खुद को भूल जाता है, इसलिए इस वाङ्मय की रचना करनी पड़ी।

(७) नागरी और उर्दू के साथ एक द्रविड़ लिपि और

जोड़ दी गई है। यह मेरी खास सूचना है। सारे हिन्दुस्तान की एकता उसके वगैर सिद्ध होनेवाली नहीं है। लिपि के साथ भाषा अपने आप आती है। द्रविड़ों की चार भाषाएं, तीन लिपियां हैं। एक सीख लेने से हेतु सफल होता है। विचार ध्यान में आजाय तो मुश्किल कुछ भी नहीं है, और जरूरत वहुत है। उत्तर की लिंग-भेद से पीड़ित भाषाएं दक्षिण के लोगों के लिए जितनी मुश्किल हैं, उससे दक्षिण की भाषा उत्तरवालों के लिए अधिक मुश्किल नहीं है, यह मैं अनुभव से जानता हूं। वह कुछ भी हो, लेकिन एकता के लिए हम उनको हिन्दी सिखलवावें और हम कुछ न करते हुए मुफ्त में एकता साध्य करने का पुण्य हासिल करें, यह शोभा देनेवाला नहीं है। और दीर्घ दृष्टि से देखा जाय तो यह चलनेवाला भी नहीं है। लिपि सीखने का सरल तरीका यह है कि वर्णमाला का सामान्य परिचय कर लेने के वाद गीता-जैसा परिचित ग्रंथ उस लिपि में पढ़ा जाय। इससे लिपि आंख में आसानी से भर जाती है। तामील या लोकनागरी की तरह संयुक्ताक्षर हलंत चिह्न से वनाये जायं तो लिपि सीखना एक खेल वन जायगा। लेकिन यह वात उन-उन भाषा वालों को सूझेगी तव।

जीवन-शुद्धि का यह कार्य-क्रम है। उन-उन संघों के लिए वह फर्ज होते हुए भी सवको करने लायक वह है। सर्वोदय-समाज के सेवक अगर उसके अनुसार कृति करेंगे तो सर्वोदय-समाज अग्नि की तरह चारों ओर फैलेगा। ये नियम केवल निर्देशक हैं। ऐसे और भी नियम जीवन-शुद्धि के खयाल से हरएक को अपने

लिए बनाने चाहिएं। लेकिन इसमें दो बातों के परहेज का खयाल रक्खा जाय। पहली बात यह है कि नियमों का बोझ नहीं होने देना है। नियमों के कारण जीवन को दिशा मिलती है और जीवन आसान बनता है, ऐसा होना चाहिए। दूसरा परहेज यह है कि दूसरों के दोष देखने के खयाल से इन नियमों का उपयोग नहीं करना है। नहीं तो संकुचित बुद्धि और भेद-भाव उसमें से निर्माण होगा। ये दो बातें संभालकर "नियमों का पालन करें अगर सेवक बनना चाहें।"

'सेवक', वर्धा

१२ अप्रैल, १९४८

: १७ :

सर्वोदय-दिन का कार्यक्रम

गांधीजी का निर्वाण-दिन इस महीने की ३० तारीख को आता है। उस दिन उनको गये एक वर्ष पूरा होता है। देश-भर में, हरएक गांव में, उस निमित्त कुछ-न-कुछ कार्यक्रम होगा। और उचित भी है। और महान् पुरुषों के स्मरण का आधार हमारे जैसे सामान्य लोगों को आवश्यक होता है।

मैं उस दिन को गांधी-स्मरण-दिन न कहते हुए सर्वोदय-दिन कहता हूं। क्योंकि आखिर व्यक्ति की अपेक्षा विचार पर दृष्टि स्थिर होना अधिक लाभदायी है। मैं हाल ही में दादू-समाज में हो आया। उन लोगों को कह आया हूं कि "दादू का नाम मिट जाय, भगवान् का रहे।" यहां भी मैं वही कहता हूं। गांधीजी को इस बात की विशेष फिक्र थी। उनके जन्म-दिवस को लोग गांधी-जयंती कहते थे। लेकिन गांधीजी ने कहा कि "उसको आप चरखा-जयंती कहें, इससे विचार आपके पास रह जायगा।" अफ्रीका से लिखा हुआ उनका एक पत्र हाल ही में मेरे देखने में आया। उसमें वे लिखते हैं कि "मेरा नाम मिटेगा तभी मेरा काम आगे बढ़ेगा।" ज्ञानदेव ने भगवान् से मांगा

था—"माझी उरो नेदी कीर्ति, हें दान श्रीपति मज द्यावें" (हे श्रीपति, मेरी कीर्ति न रहे, यह दान आप मुझे दीजिये)। ज्ञानेश्वरी में भी "माझें नाम रूप लोपो" (मेरा नाम और रूप मिट जाय), ऐसी आकांक्षा प्रगट की है। विचार जिन्दा रहे। व्यक्ति मरने ही वाला है। ऐसा न होकर व्यक्ति का नाम ही जिंदा रहा तो हम खतरे में रहेंगे। फिर हम संकुचित ग्रंथ बना कर समाज में टुकड़े पैदा करेंगे। इस तरह से आज ही हिन्दुस्तान में पांच-सात अवतार हैं और उनके भक्त उनके जिन्दा रहते हुए ही उनकी पूजा कर रहे हैं। इसमें श्रेय नहीं हैं। गांधीजी खुद को सामान्य पुरुष समझते थे। उनको वैसे रहने देने में ही सार है। उसमें से हमको बहुत कुछ सीखने को मिलेगा। अगर नाम ही लेना है तो हत्याकारी का प्रहार शरीर को लगते ही सहज भक्तिभाव से जो नाम गांधीजी के मुख से निकला, वही हम क्यों न लें? इसलिए मैं उनके स्मृति दिन को 'सर्वोदय-दिन' कहना चाहता हूं।

इस दृष्टि से देखा जाय तो वह दिन क्रियाशील चिंतन में हम व्यतीत करें तो बहुत भारी काम होगा। उस दिन सामुदायिक तौर पर कुछ क्रियात्मक कार्यक्रम होना चाहिए। हमारे जीवन में निष्क्रियता बहुत है। कर्म द्वारा उपासना—जो सारे धर्मों की सिखावन है, लेकिन हम जिसको भूल गये हैं और जो गांधीजी के जीवन में ओतप्रोत थी—हमारे जीवन में स्थिर होनी चाहिए। इसलिए मैं सुझाऊंगा कि उस दिन सार्वजनिक सफाई का काम सब मिलकर करें। सारे भंगी बनकर सारा देश आइने की तरह काम करें। भंगियों को अस्पृश्य समझकर हमारे देश ने बड़ा पाप

किया है और सारे देश में इतनी गंदगी पैदा कर दी है कि वैसी दूसरे किसी भी सुधरे हुए देश में देखने को नहीं मिलेगी। उसका प्रायश्चित्त हमको करना ही चाहिए। छोटे-बड़े सब नम्र बनें। सबसे जो नीच है, वह मैं ही हूं, इस भावना से यह सेवा का काम हम करें।

वैसे ही इस देश को उत्पादन की बहुत आवश्यकता है। इसलिए सब लोग चरखा चलायें। प्रेम-सूत्र से सबके हृदय एक साथ मिलाये जायं। कातने का काम ऐसा है कि बहुत बीमार मनुष्य को छोड़कर छोटे-बड़े सब आसानी से कर सकते हैं। इसलिए उत्पादन की दृष्टि से सूत कातने का काम किया जाय।

ये दो क्रियात्मक कार्यक्रम हुए। इसके अलावा सामुदायिक प्रार्थना भी होनी चाहिए। उसमें सब जातियों के हृदय शुद्ध और एक भावापन्न हों। हो सके तो उस दिन फाका भी किया जाय। उससे शुद्धि में मदद होगी।

इस कार्यक्रम के साथ सर्वोदय के विचार का चिंतन होना चाहिए। वह अनेक प्रकार से हो सकता है। चिंतन ऐसी महान् वस्तु है कि उसमें हम चाहे जितने गहरे जा सकते हैं। हमको विशिष्टों का उदय नहीं, बल्कि सबका उदय सिद्ध करना है, यह एक चिन्तन हुआ।

किसीके भी हित से दूसरे किसीके हित का विरोध हो नहीं सकता है, सबके हित अविरोधी होते हैं। सात्त्विक, राजस और तामस के भेदों के कारण सब सुख-दुःखों में भेद हो सकता है। लेकिन हितों में वैसा भेद नहीं होता है, यह दूसरा चिंतन।

मैं सबमें हूं और सब मेरे में हैं, इसलिए सबकी सेवा में शून्य हो जाना मेरा कर्त्तव्य है, यह तीसरा चिंतन।

इसीमें से यह बात साफ हो जाती है कि यह सब सिद्ध करने के लिए सत्य का व्रत अनिवार्य है। हमारा किसी पर भी आक्रमण नहीं होगा, इसकी चिन्ता रखनी चाहिए, संयम सीखना चाहिए। इस तरह अनेक प्रकार से सर्वोदय का चिंतन उस दिन किया जाय।

भगवान् की हमारे देश पर बड़ी कृपा है कि पुराने जमाने से आज तक उसने असंख्य सत्पुरुष यहां भेजे। उनकी मानों एक अखंड मालिका ही उसने लगा दी। आज के जैसी गिरी हालत में भी हिन्दुस्तान पर उसने सत्पुरुषों की वर्षा की। हम अगर अपने हृदय खुले रक्खेंगे तो वे सत्पुरुष हमारे हृदय में जन्म लेंगे और हमारा ही रूपान्तर हो जायगा। भगवान् चाहेगा तो क्या नहीं होगा?

गांधी-तत्त्वज्ञान-मन्दिर, धुलिया

७ जनवरी, १९४९

विनोबा-साहित्य

विनोबा के विचार (दो भाग)—विनोबाजी के निबन्धों व व्याख्यानोंका महत्वपूर्ण संग्रह। प्रति भाग २)

गीता-प्रवचन—गीता के प्रत्येक अध्याय का बड़ी ही सरल, सुबोध शली में विवेचन। अजिल्द १।), सजिल्द २।)

शांति-यात्रा—गांधीजी के देहावसान के बाद अनेक स्थानों में दिये गए विनोबाजी के प्रवचन। अजिल्द २॥), सजिल्द ३॥)

स्थितप्रज्ञ-दर्शन—स्थितप्रज्ञ के लक्षणों की व्याख्या। १॥)

ईशावास्यवृत्ति—ईशोपनिषद् की विस्तृत टीका। १)

ईशावास्योपनिषद्—मूल श्लोकों सहित ईशोपनिषद् का सरल अनुवाद। =)

सर्वोदय-विचार—सर्वोदय-विषयक लेखों व प्रवचनों का संग्रह। १=)

स्वराज्य-शास्त्र—प्रश्नोत्तर के रूप में विनोबाजी द्वारा स्वराज्य की परिभाषा, अहिंसात्मक राज्य-पद्धति एवं आदर्श राज्य-व्यवस्था का विवेचन। १)

भू-दान-यज्ञ—देश के भूमिहीनों की दुर्दशा से प्रभावित होकर भूमि के समवितरणार्थ दिये गए मूल्यवान प्रवचन। ।)

राजघाट की संनिधि में—भू-दान-यज्ञ के सिलसिले में दिल्ली में दिये गए विनोबाजी के प्रवचन। ॥=)

सर्वोदय-यात्रा—सर्वोदय-सम्मेलन शिवरामपल्ली के अवसर पर पैदल-यात्रा में दिये गए प्रवचनों का संग्रह। १।)

गांधीजी को श्रद्धांजलि—गांधीजी के प्रति विनोबाजी की सर्वोत्तम श्रद्धांजलि। ।=)

●

गांधी अध्ययन केन्द्र

विथि	तिथि
३ जून-५६	
२८-९-५४	
3/१०/५४	
२७/२२.५.५६	
५२७/२८.४.५८	

था और मानता हूं कि जागतिक महायुद्ध ईश्वरी होते हैं और कुछ सजा देकर ही क्यों न हो, पर होते हैं मानव की उन्नति के लिए ही। मैं यह भी जानता हूं कि ऐसे महायुद्ध भी प्रशांत आत्मा के एक कोने में चला करते हैं, आज दीख पड़ते हैं, चंद रोज बाद खतम हो जाते हैं।

लेकिन आज जो मैंने बहुत-सी चीजें वर्णन की हैं वे चिंतन के लिए हैं, न कि निराश होने के लिए। जब मैं चिंतन करता हूं तो इन सबका हल मुझे सर्वोदय-समाज की कल्पना में दीख पड़ता है। लोग मुझे पूछते हैं, "सर्वोदय-समाज की संघटना किस प्रकार की है ?" मैं कहता हूं वह कोई संघटना नहीं है, वह एक क्रांतिकारी शब्द है। उस पर हम सोचें और अमल करें तो मार्ग मिल जायगा।

पश्चिम के लोगों ने जो ध्येय हमारे सामने रक्खा है, अधिक-से-अधिक लोगों के अधिक-से-अधिक सुख का, उसमें बहु-संख्यकों और अल्पसंख्यकों के झगड़ों का बीज है। लेकिन सर्वोदय की दृष्टि, जैसे कि गीता ने कहा है, सर्व-भूत-हित में रत होने की है। उसके लिए हम सबको सत्य, अहिंसा की निष्ठा बढ़ानी है। अपने निजी और सामाजिक जीवन में तथा व्यापार-उद्योग आदि में कभी असत्य का उपयोग नहीं करना है, जहांतक हो सके, हिंसा का प्रवेश न हो, ऐसी कोशिश करनी है और समाज के उत्थान के लिए जो विविध रचनात्मक कार्यक्रम बताया गया है, उसमें से जिससे जितना बन सके करना है, व्यक्तिगत तौर पर, मित्रों को साथ लेकर और जरूरत

पड़ने पर स्थानिक संस्था बनाकर। उसके पीछे जो महान्-दृष्टि है, उसका विचार करना है और उसीका उच्चार याने जप भी करते रहना है।

अगर हम नवयुवकों का और सबका ध्यान इस महान् विचार की तरफ खींच सकें तो मैं मानता हूं कि दुनिया की बहुत सारी समस्याओं का हल इसीमें से निकल सकता है। नहीं तो केवल राजकीय तरीकों से, जो आजकल दुनिया-भर में आजमाये जा रहे हैं, कुछ होनेवाला नहीं है।

राजघाट दिल्ली,

२४ दिसम्बर, १९४९

: १० :

सर्वोदय–एक क्रान्तिकारी कल्पना

हिन्दुस्तान के समुद्र में यह प्रदर्शिनी एक विन्दु मात्र है। लेकिन वह अमृत विन्दु है और ग्रामीण जनता के लिए जीवन-दायी है। मेरे लिए तो कांग्रेस से यही एक आशा है। इसके पीछे अनेक कार्यकर्त्ताओं का परिश्रम रहा है। हिंदुस्तान के हर हिस्से से रचनात्मक काम करने वाले ५०० भाइयों ने आकर यहां काम किया है और अपनी बुद्धि तथा शक्ति लगाकर इस प्रदर्शिनी को रचा है।

छः महीने पहिले का जिक्र है। वर्धा में एक सभा हुई थी जिसमें वहांकी सब संस्थाओं के लोग इकट्ठे हुए थे। वहां चर्चा निकली कि देहात का काम इन संस्थाओं द्वारा तो हम चलाते हैं लेकिन साथ-साथ देहातों में घूमने का सिलसिला भी जारी रखना चाहिए। हममें से कुछ लोगों को उसमें लग जाना चाहिए। लेकिन अभी तक वह नहीं बन सका। क्योंकि सारे लोग अपने-अपने काम में ऐसे गिरफ्तार थे कि उससे मुक्त नहीं हो पाए। लेकिन वे ही लोग काफी संख्या में यहां आकर काम कर रहे हैं। वर्धा से ही करीब सौ लोग आए हैं।

वहांके काम से अपने को फाड़कर ही वे आये हैं। इस पर से आप समझ सकते हैं कि उन्होंने इस काम को कितना महत्त्व दिया। मैं उम्मीद करूंगा कि प्रेक्षकगण उनके परिश्रम को सफल करेंगे। बारीकी से इस प्रदर्शिनी का अध्ययन करेंगे और अपने जीवन में उसका उपयोग करेंगे।

लेकिन यहाँ आक्षेपक पूछ सकता है कि उम्मीद रखना एक बात है और सयुक्तिक अपेक्षा रखना दूसरी बात है। दो-चार रोज में लाखों लोग जहां आयंगे और जहां उनकी नजरों से बहुत-सी चीजें सिर्फ गुजरेंगी वहां अध्ययन की अपेक्षा कोई कैसे कर सकता है? मैं मानता हूं कि इस आक्षेप में वजूद है। यद्यपि लाखों की नजरों से चीजों का गुजरना भी एक काम की बात है। फिर भी परिश्रम के हिसाब से निष्पत्ति कम होगी यह तो मानना ही होगा। लेकिन प्रदर्शिनी में काम करनेवालों ने कर्त्तव्य-बुद्धि से उत्साहपूर्वक काम किया है। मैं तो गणिती रहा, इसलिए शक्ति-संचय के खयाल से मैंने आजतक ऐसे प्रदर्शनों में बहुत हिस्सा नहीं लिया है। इस मरतबा आग्रहवश आ गया हूं; लेकिन वह दूसरी चीज है जो यहां मुझे खींच लाई है। वह आपका रक्खा हुआ इस प्रदर्शनी का 'सर्वोदय' नाम है। आप जानते हैं कि गांधीजी के निर्वाण के बाद सर्वोदय-समाज की कल्पना लोगों में फैल गई है। जहां जाता हूं लोग पूछते हैं कि यह सर्वोदय-समाज क्या है? उसकी संघटना कैसी है? मैं उनको समझाता हूं कि वह संघटना नहीं है। वह एक महान् क्रांतिकारी शब्द है। महान् शब्दों में जो शक्ति भरी रहती है

वह किसी संघटना में नहीं रहती। शब्द तारक होते हैं और शब्द मारक होते हैं। शब्दों से उत्थान होता है और शब्दों से पतन होता है। ऐसे एक महान् शब्द का हमने उपयोग किया है। वह शब्द क्या कहता है? हमें चन्द लोगों का उदय नहीं करना है, अधिक लोगों का उदय भी नहीं करना है, अधिक-से-अधिक लोगों के उदय से भी हमें संतोष नहीं है, सबके उदय से ही हमें समाधान है। छोटे-बड़े दुर्बल-सबल, बुद्धिमान, जड़, सबका उदय होगा तभी हमें चैन लेना है। ऐसा विशाल भाव यह शब्द हमें देता है।

इस दृष्टि से इस प्रदर्शनी को देखेंगे तो यहां बहुत चीजें सीखने को मिलेंगी। यहां खादी-विभाग में ऐसे छोटे-छोटे औजार हैं कि जिनसे कपास से लेकर कपड़ा बुनने तक का काम किया जा सकता है, तांत का भी उपयोग करने की उसमें जरूरत नहीं पड़ेगी। नई तालीम का विभाग देखने से पता चलेगा कि बच्चे बेकार नहीं, बल्कि देश के समर्थ सेवक बनते हैं। यहां कई ग्राम-उद्योग देखने को मिलेंगे जो कि आसानी से हर देहात में किये जा सकते हैं। देहात के लिए उपयोगी पाखानों के अनेक नमूने रखे गए हैं जिससे गांव की आरोग्य-रक्षा के साथ-साथ ग्रामीणों की संस्कारिता बढ़ेगी और देश की उपज भी।

लोग पूछते हैं—यह तो बड़े पैमाने में, महत् परिणाम में, काम करने का जमाना है, इसमें आपके छोटे औजार क्या काम देंगे? मैं कहता हूं, मुझे महत् नहीं, महत्तर नहीं, महत्तम परिणाम चाहिए। लेकिन महत् परिमाण किसे कहें, यह सोचने की बात

है। मैं तो कहता हूँ, इन छोटे औजारों से ही महत्तम परिमाण में काम होता है। क्योंकि उनमें करोड़ों के हाथ लग सकते हैं। मिलों में बहुत हुआ तो दस-बीस लाख हाथों से काम होगा और उतने ही उदरों को पोषण मिलेगा, लेकिन जिन औजारों में करोड़ों के हाथ लग सकते हैं और जिनसे करोड़ों को पोषण मिलता है, उसे छोटे परिमाण का कहेंगे या बड़े परिमाण का? संत तुकाराम ने कहा है, "मेरा धन और धान्य इतना थोड़ा नहीं है कि किसी बैंक में या कोठार में समा सके। वह तो हर घर में रखा हुआ है, इतना महान् वैभव मेरा है।" अपने छोटे-से बैंक या ट्रंक में भरे हुए धन को जो बड़ा मानता है उसका दिल छोटा है। जिसका धन हर घर में संचित है वह विचार में महान और संपत्ति में श्रीमान् है। वारिश की बूंद की तुलना हौज में भरे पानी से करके जो इस बूंद को छोटा मानता है, वह ठीक ढंग से विचार करना नहीं जानता। वारिश की बूंद छोटी होती है, पर हर जगह गिरकर व्यापक जल-दान करती है, इसलिए वह छोटी नहीं है। यही ग्रामोद्योगों की क्रान्तिकारी दृष्टि इसमें है, जो अत्यन्त व्यापक पैमाने पर काम कैसे करना यह सिखाती है।

लेकिन कुछ लोग कहते हैं कि आप कांग्रेस का आश्रय क्यों करते हैं? आपके ग्रामोद्योग और सर्वोदय को कांग्रेस में कौन पूछता है। मैं कहता हूं कि कांग्रेस की इस बारे में क्या स्थिति है, यह तो मैं नहीं जानता। शायद कांग्रेस के विचार की सफाई इस अधिवेशन में हो जाय तो हमें मालूम हो जायगा। लेकिन मैं

इतना तो जरूर कहूंगा कि अगर हम कांग्रेस के आश्रित बन कर यहां आये हैं तो खतरे में हैं। यह तो मैं देख रहा हूं कि कांग्रेसवालों ने अपनी अर्जित कमाई को क्षीण करने का कार्यक्रम वेगपूर्वक शुरू कर दिया है। नई तपस्या करने की नहीं सोचते हैं। पुरानी तपस्या को बेचकर खाना चाहते हैं। भोग-लालसा बढ़ रही है, मत्सर बुद्धि का जोर है और सत्य का कोई खास ख्याल नहीं किया जा रहा है। मैं किसीको दूषण देने की दृष्टि से नहीं बोल रहा हूं। मैं अपने को कांग्रेस का एक अदना सेवक मानता हूं। मैंने अपना स्थान तो कांग्रेस में कहीं नहीं रक्खा है लेकिन जब कभी कांग्रेस ने मदद लेनी चाही, मैंने सेवा दी, इसलिए यह बयान मैं दुःख के साथ कर रहा हूं। हम लोग यहां आये हैं तो हममें यह हिम्मत होनी चाहिए कि कांग्रेस पर हम अपना रंग चढ़ायेंगे। वैसे तो सारे देश को हमें आत्मसात् करना है। कांग्रेस में ही नहीं, और भी जहां कहीं हमें प्रवेश मिलेगा हमें जाना चाहिए और अपने विचार और आचार लोगों के सामने रखने चाहिए। लोगों को लेना होगा, उतना वे लेंगे। नारद जैसे देवों में पहुंचता था, दानवों में जाता था और मानवों में घूमता था, वैसे हर जमात में और हर जगह जहां हमें मौका मिलेगा, जाने की हम हिम्मत रक्खेंगे तो उसमें हमारा भला है और देश का भी। हम किसी संस्था के आश्रित नहीं रहना चाहते वैसे ही न हमें सत्ता की तरफ देखना है। किसी भी क्रांतिकारी विचार का प्रचार सत्ता के जरिये नहीं हुआ है। बहुत हुआ तो सत्ता लोगों को कुछ सुख पहुंचा सकती है, इससे अधिक

आशा सत्ता से नहीं करनी चाहिए। हमारे देश में बुद्ध भगवान् ने क्रान्तिकारी विचार लोगों को दिये थे, लेकिन उसमें उनको राज्यसत्ता का उपयोग नहीं बल्कि त्याग करना पड़ा था। गांधीजी ने भी विचारों के प्रचार के लिए राज्य नहीं चाहा था, उन्होंने तो स्वराज्य चाहा था। स्वराज्य यानी जहां हरेक अपना राजा हो जाता है, अर्थात् जहां राज्य-सत्ता क्षीण हो जाती है, सत्ता के लिए कोई अवकाश ही नहीं रह जाता। वह स्वराज्य तो हमें हासिल करना बाकी है। इसलिए सत्ता से निरपेक्ष और आत्मनिष्ठ बनकर हमें काम करना सीखना चाहिए।

मैं तो इस प्रदर्शिनी का एक दूसरी ही दृष्टि से लाभ देखता हूं। यहां करीब ५०० कार्यकर्त्ता महीनों से काम कर रहे हैं, उनको यहां एकत्र काम करने का मौका मिला है। वे अपनी-अपनी संस्थाओं में अलग-अलग प्रकार का काम किया करते थे। उनको यहां समग्र दृष्टि से काम करने का शिक्षण मिला है, परस्पर सहकार का पाठ मिला है—उसके परिणामस्वरूप अगर वे प्रेम का परिपोष करेंगे, अहिंसा और सत्य की निष्ठा बढ़ायेंगे, तेजस्वी, बुद्धिमान और आत्मनिष्ठ होंगे तो इस प्रदर्शिनी का अधिक-से-अधिक लाभ हुआ, ऐसा मैं मानूंगा।

सर्वोदय प्रदर्शिनी, गांधीनगर, जयपुर

१४ दिसम्बर, १९४८

: ११ :

सर्वोदय का त्रिविध स्वरूप

१

हम जहां बैठे हैं, वह गांधी-तत्त्वज्ञान-मन्दिर की जगह कही जाती है। महादेवभाई की मृत्यु के बाद उनका कुछ स्मारक हो, ऐसी प्रेरणा धुलिया के लोगों को हुई। हम सब उस समय जेल में थे। जो बाहर रह गये थे, उनकी भावना जेल में गये हुए लोगों की भावना से अधिक तीव्र थी और स्वकर्त्तव्य के बारे में उनकी व्याकुलता अधिक थी, ऐसा मुझे लगता है। महादेवभाई की मृत्यु जेल में हुई। इस घटना का सारे हिन्दुस्तान पर गहरा असर पड़ा। धूलिया के लोग पहले से ही सत्याग्रह-आन्दोलन के साथ विशेष सहानुभूति रखनेवाले हैं, इसलिए उस मृत्यु के निमित्त से कोई स्मारक बनाने की इच्छा उनको हुई। लेकिन महादेवभाई का जीवन तो गांधीजी के जीवन में विलीन हो गया था। इसलिए महादेवभाई का स्मारक यानी गांधीजी के विचारों का स्मारक, ऐसी स्थिति थी। अन्त में गांधी तत्त्वज्ञान-मन्दिर के नाम से वह स्मारक बनाया गया। इसमें नाम गांधीजी का रहेगा और उसमें महादेवभाई

का स्मरण अपने आप हो जायगा।

तुलसीदासजी ने रामायण में लक्ष्मण का वर्णन किया है। हम 'झण्डा ऊंचा रहे हमारा' यह झंडा गीत गाते हैं। यही उपमा तुलसीदासजी ने ली है। वे कहते हैं—"प्रभु रामचन्द्रजी के के सुयश की पताका, उनकी कीर्ति का झण्डा जो इतना ऊंचा लहराया सो इसलिए कि लक्ष्मण के ऊंचे डंडे का उसको आधार था। "दण्ड समान भयहु जस जाका"। हम 'झण्डा ऊंचा रहे' कहते हैं, 'डण्डा ऊंचा रहे' नहीं कहते। लेकिन अगर डंडा ऊंचा न रहा तो झण्डा कैसे रहेगा? यह डंडे की खूबी है कि वह सीधा खड़ा रहकर झंडे को ऊंचा रखता है। लेकिन उसका नाम कोई नहीं लेता। तुलसीदासजी-जैसा कोई मनोज्ञ और रसिक मनुष्य ही उसकी याद रखता है। रामचन्द्रजी के यश में अपना यश लुप्त हो जाय, इसीमें लक्ष्मण को धन्यता मालूम होती थी। उसका यश अगर रामचन्द्रजी के यश से भिन्न रहता तो वैसी धन्यता उसको महसूस न होती। यही हालत गांधीजी के विषय में महादेवभाई की थी। ज्ञानदेव का भी वचन है—"माझी उरो नेदी कीर्ति। माझें नाम-रूप लोपो" (मेरी कीर्ति न रहे—मेरा नाम रूप मिट जाय)। महादेवभाई की यही वासना थी। इसलिए महादेवभाई का स्मारक बनाते समय उनके ही नाम को प्रधानता देने की बुद्धि यहांके लोगों को नहीं हुई, और गांधी-तत्त्वज्ञान-मन्दिर के नाम से इस स्मारक की स्थापना हुई। उसीकी छाया में बैठकर अपनी यह प्रार्थना हो रही है।

ऐसा यह मन्दिर जिन्होंने बनाया, उन धूलियावालों ने एक बड़ी जिम्मेदारी उठाई है। उसकी पहचान करा देने का आज थोड़ा प्रयत्न करूंगा।

इसको गांधी-तत्त्वज्ञान नाम दिया है, इसलिए गांधीजी के तत्त्वज्ञान का अध्ययन यहां हो, ऐसी अपेक्षा रहना स्वाभाविक ही है। जिस समय इस मन्दिर की कल्पना निकली, उस समय गांधीजी हमारे बीच में थे। अभी तक यह मन्दिर पूरा नहीं बना है, लेकिन चन्द रोज में बन जायगा। बीच के समय में गांधीजी चले गये हैं और अब उनका सम्पूर्ण जीवन हमारे सामने है। किसी मनुष्य के जीवन का और उसके विचारों का मूल्यमापन और उसमें ग्रहण करने लायक क्या है, इसका सही निर्णय उस मनुष्य के जिन्दा रहते हुए नहीं हो सकता। लेकिन अब गांधीजी का जीवन समाप्त हो गया है। और जिस रीति से वह समाप्त हुआ, उस रीति ने भी उनके जीवन पर अप्रतिम भाष्य लिख दिया है। शांत चित्त और भगवान की प्रार्थना की तैयारी में थे तब वह गये और अन्त में दो अक्षरों के शब्द का 'राम' नाम का—उच्चार करके गये।

एक पुरानी कहानी है। वाल्मीकि ने शतकोटि रामायण लिखा था। तीनों लोक में इस रामायण पर अधिकार बतलाने की बात लेकर झगड़ा शुरू हुआ। इस झगड़े का फैसला करने का काम शंकरजी को सौंपा गया। शंकर भगवान् ने इस रामायण को तीन लोक में समान रूप से बांटना शुरू किया। तैंतीस करोड़, फिर तैंतीस लाख, इस तरह समान विभाजन करते-करते

अन्त में एक श्लोक रह गया। रामायण के अनुष्टुप छन्द का वह श्लोक बत्तीस अक्षरों का था। दस-दस अक्षरों का विभाजन करने के बाद दो अक्षर बचे। तब शंकर भगवान् ने कहा, "मैंने आपका झगड़ा मिटाने का काम किया, उसकी मजदूरी तो मुझे मिलनी ही चाहिए। बचे हुए दो अक्षरों का विभाजन नहीं होता इसलिए ये दो अक्षर मैं अपने लिए रख लेता हूँ।" कौनसे थे वे अक्षर? "राम" नाम। सारी रामायण उन्होंने तीनों लोक में बांट दी और उसका सार दो अक्षरों में ग्रहण किया। वही रामनाम मुख से लेकर परमेश्वर और धर्म के विषय की अपनी निष्ठा—जो सारे जीवन भर अखंड जागृति रखकर उन्हींसे प्राप्त की थी—उन दो अक्षरों में जाहिर करके गांधीजी चले गये।

इस प्रकार एक पूर्ण जीवन हमारे सामने है। "पूर्ण जीवन" से मेरा मतलब अव्यंग या सकलांग नहीं है। किसी भी देहधारी मनुष्य का जीवन वैसा नहीं हो सकता। गांधीजी खुद भी कहते थे कि मैं एक सामान्य मनुष्य हूं। रास्ता तय कर रहा हूं। भगवान् की कृपा से जितना तय कर सका, किया है। अभी तक मुसाफिरी में हूं, मुकाम पर नहीं पहुंचा हूं। इसलिए "पूर्ण जीवन" का अर्थ, एक समाप्त हुआ जीवन, यही लेना चाहिए। अब हम तटस्थता से और समग्रता से उनके विचारों का अभ्यास कर सकते हैं, ऐसी स्थिति है।

तटस्थता से इसलिए कि देहधारी व्यक्ति के चले जाने से उसके विषय में हमें होनेवाला लोभ और मोह अब रुकावट

नहीं डालेगा। गांधीजी देहधारी थे तब उनके नेतृत्व का लोभ हमें था। और शायद खास विचार न करते हुए हम उनका कहना मान लेते थे। आज उस नेतृत्व का लोभ नहीं रहा, इसलिए उनके विचारों का अभ्यास अब तटस्थता से और निरपेक्ष बुद्धि से हम कर सकते हैं। विचारों का अभ्यास तटस्थता से ही होना चाहिए। विचारों को स्वतन्त्र कसौटी पर कस लेना चाहिए। व्यक्तिगत जीवन के उदाहरण, बहुत हुआ तो, केवल विचार-प्रकाशन के साधन के तौर पर लेना हो तो ले सकते हैं। लेकिन उससे अधिक मूल्य व्यक्तिगत चरित्र को देना उचित नहीं है। विचारों को अलग रखकर देखना लाभदायक होता है। वैसी सहूलियत पहले की अपेक्षा अब अधिक हो गई है।

और समग्रता से अभ्यास कर सकते हैं, इसका अर्थ यह है कि मनुष्य का जीवन जबतक समाप्त नहीं होता है तबतक उसके विचारों में परिवर्तन होता रहता है, इसलिए विचारों का सम्पूर्ण दर्शन नहीं होता है। खास करके जो नित्य निरन्तर प्रगति करते हैं, उनके विचारों का विकास आखिर में बहुत तेजी से होता है। तुकाराम के जीवन में यही दीखता है। वह सतत प्रयत्नशील महापुरुष था। वासनाओं के क्लेश में से मुक्त होने के लिए उनका इतना जोरदार झगड़ा चलता था कि वैसा दूसरा उदाहरण कम मिलेगा। लेकिन आखिर के, शायद दो-चार-छः महीनों के समय में, उन्होंने जो महान् अनुभव प्राप्त किया, वह उसके पहले कभी भी नहीं किया था। तुकाराम के आध्यात्मिक जीवन की उज्ज्वल पराकाष्ठा आखिर के दिनों में ही दिखाई

देती है। उसके पहले की उनकी साधकदशा उनके अभंगों में खुली प्रकट होती है। आखिर के दो-तीन महीनों में तुकाराम ने जितनी ऊंची उड़ान ली है, उतनी सारे जीवन में भी वे नहीं ले सके थे। गांधीजी की हालत भी बहुत-कुछ ऐसी ही है। 'बहुत कुछ' इसलिए कहता हूं कि दो जीवनों की अक्षरशः तुलना करने-जैसी स्थिति नहीं है। एक का जीवन गहराई के साथ-साथ व्यापक और सामाजिक था, तो दूसरे का समाज-सेवाभिमुख होते हुए भी अत्यन्त गहरा व्यक्तिगत था, मन से विराट् और विशाल होते हुए भी गहराई में उतरा हुआ था। ऐसी हालत में तुलना करना गलत है। दोनों का ही जीवन महान् था। लेकिन एक बात में उनमें साम्य था। गांधीजी ने भी अपने अंतिम जीवन में जितनी ऊंची उड़ान ली थी, उतनी पहले कभी नहीं ली थी। उड़ान उन्होंने पहले भी ली है। लेकिन यह अंतिम उड़ान हनूमान के जैसी थी। उनका जीवन समाप्त होने से उनके विचारों की समग्रता हमारे सामने है, इसलिए वह चिंतन का उत्तम विषय बन सकता है। उनकी मृत्यु के छः महीने पहले के उनके विचार लेकर यदि हम कुछ निष्कर्ष निकालने बैठते तो सही निष्कर्ष नहीं निकाल पाते, इतना उनका स्वतंत्र दर्शन आखिर के दिनों में हुआ। यह दर्शन पहले के जीवन से विसंगत नहीं था, सुसंगत ही था। लेकिन अभी मैंने उपमा दी, उस तरह वह हनूमान की उड़ान थी। अब उनका व्यक्तिगत जीवन समाप्त ही हो गया है, इसलिए उनके विचारों का समग्रता से हम विचार कर सकते हैं। और गांधी-तत्त्वज्ञान-

मन्दिर बनाकर धुलिया वालों ने वह जिम्मेदारी उठाई है, इसकी ओर मैं उनका ध्यान खींचना चाहता हूं।

उसके लिए क्या करना चाहिए, यह भी कहने का मेरा विचार है। आज के एक व्याख्यान में वह विषय पूरा नहीं होगा। और एक-दो व्याख्यानों की जरूरत होगी। लोगों के कर्त्तव्य की ओर मैंने आज इशारा किया। अब उसकी कुछ तफ़सील भी बतानी है। उसमें से एक वस्तु आज कहकर दूसरी कल के लिए छोड़ दूंगा।

पहली बात यह कि यद्यपि इसको गांधी-तत्त्वज्ञान-मन्दिर नाम दिया है, फिर भी यह जीवन-तत्त्वज्ञान-मन्दिर होना चाहिए। संक्षेप में कहें तो यह केवल तत्त्वज्ञान-मन्दिर ही है। गांधीजी का नाम है, इसलिए केवल गांधीजी के विचारों का अभ्यास करेंगे और अनादि काल से जो अनेक विचार इस भाग्यवान देश को मिलते आये हैं, उनकी ओर ध्यान नहीं देंगे, ऐसी वृत्ति नहीं होनी चाहिए। यह मेरी पहली सूचना है। गांधी-तत्त्वज्ञान-मन्दिर यानी गांधीजी की प्रेरणा लेकर जीवन के तत्त्व-ज्ञान का अभ्यास करनेवाला मन्दिर। गांधीजी की प्रेरणा का उसको आधार है, इतना ही इस नाम का अर्थ है। गांधीजी के विचारों के मुताबिक चलने का प्रयत्न अल्प ही सही, देश ने किया है। उनके विचारों में भारतीय संस्कृति का उत्तम परिपाक मिलता है, दुनिया के विचारों का सत्-अंश मिलता है। इसलिए उनके विचारों का अध्ययन अवश्यमेव करना चाहिए। लेकिन केवल उनके ही विचारों का अध्ययन, ऐसा अर्थ इस मन्दिर का

न हो, नहीं तो गांधीजी की सारी शिक्षा ही हम भूल गये, ऐसा होगा। उनसे जब कभी कोई कहता कि अमुक बात आपने नई बताई तो वह कहते—मुझे नहीं लगता कि मैंने कोई नई बात बताई है। आज तक अनेक संतों ने जो बात कही है, उस पर इस युग में कैसे अमल किया जाय इसका मैं प्रयत्न कर रहा हूं, बस इतना ही कह सकता हूं।" उनके कहने में केवल नम्रता थी, ऐसा मैं नहीं मानता। वस्तुस्थिति वैसी ही है। तुकाराम भी यही कहता था। "आम्ही वैकुंठवासी, आलों याचि कारणासी, बोलिले जे ऋषि साच भावें वर्ताया"। ऋषि बोल गये और संत कह गये वह सत्पुरुषों का मार्ग लुप्त हो गया। उसको फिर से अमल में लाने के लिए हम भगवान् के सेवक अपने स्थान से थोड़ी छुट्टी निकाल कर यहां आये हैं। यही भाषा ईसा की थी। वह कहता था—"मैं पुरखाओं की सिखावन मिटाने के लिए नहीं, बल्कि उसकी पूर्णता करने आया हूं।" शंकराचार्य इतने महान्, लेकिन वे अपना विचार उत्तम तर्क से रखकर भी पुराने वचनों का आधार दिया करते। कोई कहते हैं, इस तरह आधार देना पंगुता है। मैं कहता हूं, वह पंगुता नहीं बुद्धिमत्ता है। अनन्त अनुभवों से भरे अर्थ-धन और शक्तिशाली पुराने शब्द जो इस्तेमाल करता है, वह उनका ऋण कभी नहीं भूल सकता।

एक बार मेरे एक मित्र मुहम्मद पैगम्बर के पुरुषार्थ का वर्णन करते हुए कह रहे थे—"अरब इतने जंगली, लेकिन मुहम्मद ने उनको मानवता प्रदान की। मुहम्मद का यह कितना महान् पुरुषार्थ। बिल्कुल गांधीजी की तरह ही है। यह गांधीजी ने

हमारे जैसे दीनजनों को महान् बनाया ।" मैंने कहा—मुहम्मद पैगम्बर के बारे में तुम्हारा खयाल गलत है। इसी तरह गांधीजी के बारे में भी मुझे न तुम्हारी उपमा मान्य होती है, न उपमेय ही। यह सही है कि दोनों महान् थे और दोनों ने महान् सुधारों द्वारा जनता को जाग्रत किया। इसीलिए तुकाराम कहता है—"इन संतों का मैं कितना एहसान मानूं ? वे निरन्तर मुझे जाग्रत रखते हैं।" लेकिन इस तरह जगाते हुए भी कोई नई वस्तु उन्होंने दी है, ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि यदि नई वस्तु होती तो उसके लिए हजारों नये शब्द उनको गढ़ने पड़ते। ईश्वर, सत्य, प्रेम, दया आदि सारे शब्द अरबी भाषा में थे ही। मुहम्मद ने इन पुराने शब्दों से ही काम लिया। इसका अर्थ यह होता है कि अरबों में ज्ञान पहले था ही। वह केवल लुप्त हो गया था। इतनी जागृति मुहम्मद ने की। गांधीजी ने भी यही किया।

इसलिए गांधी-तत्त्व-ज्ञान-मन्दिर के द्वारा गांधीजी के नाम से प्रेरणा पाकर तत्त्वज्ञानमात्र का व्यापक विचार होना चाहिए। यह पहली सूचना।

२

गांधी-तत्त्वज्ञान-मंदिर की योजना यहां की गई है, उसका विनियोग कैसे किया जाय, इस सम्बन्ध में हमने कल थोड़ी चर्चा की। व्यापक बुद्धि से जीवन के तत्त्वज्ञान का अध्ययन होना चाहिए, यह बात कल बताई थी।

अक्सर ऐसा दिखाई देता है कि अध्ययन करनेवालों के गुट

चन जाते हैं। यही बात जहां-तहां अड़ंगा डाल रही है। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। क्योंकि मनुष्य में अहंकार होता है। वह किसी भी काम में संकुचित वृत्ति निर्माण करता है। अध्ययन करनेवालों में भी किसी एक चीज के अध्ययन के अलावा दूसरा कुछ देखना ही नहीं ऐसी वृत्ति होने लगती है। महाराष्ट्र में भी ऐसा देखा जाता है कि वारकरी पंथ के लोग "मनाचे श्लोक" नहीं पढ़ेंगे। उनमें सब लोग ऐसे होते हैं, यह मुझे नहीं कहना है, आम तौर पर ऐसा होता है। "मनाचे श्लोक" प्रसिद्ध होने के कारण वे अनायास कान पर पड़ते हैं, यह बात दूसरी है, लेकिन उसका अध्ययन वे नहीं करते। वैसे ही रामदासी पंथ के कुछ लोग मैंने ऐसे देखे हैं कि रामदास के छोटे-मोटे सब ग्रंथों का वे अध्ययन करेंगे; लेकिन ज्ञानेश्वरी नहीं पढ़ेंगे। यह स्थिति महाराष्ट्र में ही है, ऐसा नहीं है, दूसरी जगह भी यही हाल है।

इस तरह का पांथिक अध्ययन करनेवालों का बचाव इस तरह कर सकते हैं कि मनुष्य सब ग्रंथों का अध्ययन नहीं कर सकता, इसलिए कुछ ग्रन्थों तक का मर्यादित अध्ययन वह करता है। यह गुण भी कहा जायगा, बशर्ते कि संकुचित बुद्धि रख कर वैसा अध्ययन न होता हो। और वह मैं मान्य भी करूंगा। लेकिन फिर भी उसमें एकांगिता टलनेवाली नहीं है। सर्वांगिता होनी चाहिए। उसके लिए अपना विशिष्ट अध्ययन करके उसके इर्दगिर्द के विचारों का सामान्य अध्ययन भी करना

चाहिए। केवल भक्तिभाव के विषय में कहा जाय तो भक्तिभाव का परिपोष करनेवाला एकाध ग्रंथ भी मनुष्य के लिए काफी हो सकता है और उतने से वह संतुष्ट हो सकता है। वह कह सकता है कि इस पुस्तक के आधार से मेरे भक्तिभाव का परि-पोष हो जाता है, इसलिए दूसरी पुस्तकों के अध्ययन की मुझे जरूरत नहीं पड़ती।

लेकिन गांधीजी के विचारों के बारे में ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि उनके दिये हुए विचार केवल भक्तिभावपोषक नहीं हैं, वे जीवनव्यापी हैं और जीवनव्यापी विचार जब हम चिंतन के लिए लेते हैं तब उसके जैसे जो दूसरे विचार उपलब्ध होते हैं उनका अभ्यास किये बगैर उसकी पूर्णता नहीं होती। पूर्णता के लिए इस तरह अभ्यास की जरूरत होती है, इतना ही नहीं, बल्कि सत्यदर्शन के लिए भी उसकी जरूरत होती है। इसीलिए गांधीजी के विचारों का अभ्यास व्यापक बुद्धि से होना चाहिए। ऐसा नहीं होना चाहिए कि गांधी-तत्त्वज्ञान का मनन तो हुआ है लेकिन दूसरे-दूसरे तत्त्वज्ञान का केवल अज्ञान है। यह बात कल बताई।

व्यापक बुद्धि से अभ्यास करने की आज बहुत जरूरत है। कई वर्षों से मैं यह देख रहा हूं, और मुझे कबूल करना चाहिए कि हमारे विधायक काम करनेवाले कार्यकर्ताओं को पिछले दिनों में अध्ययन करने का मौका नहीं मिला, या उनको उसकी आवश्यकता महसूस न हुई कहो, या दोनों कहो। और अबतक हमारा विचार जोरों से नहीं फैला है उसका कारण यह कि

हमने उस विचार का चिंतन नहीं किया । अबतक जो हुआ वह एक तरह से क्षम्य भी कह सकते हैं, क्योंकि यहां पर जमी हुई सत्ता को उखाड़ फेंकने के एक कार्यक्रम में हम मशगूल थे और अध्ययन के लिए जो कुछ मौका मिला वह जेल में ही मिला, अन्यत्र कम ही मिला ऐसा कह सकते हैं। लेकिन हमारे लोगों को केवल मौका कम मिला ऐसा नहीं है, ऐसे अध्ययन की जरूरत भी हमें महसूस नहीं हुई, यह जरूर मैं दोष मानता हूं । अबतक वह नहीं खटका। क्योंकि एक जोशीला कार्यक्रम हमें आगे बढ़ाना था, उसमें हमारा अज्ञान छिप गया। लेकिन इसके आगे हमारा विचार समाज में मान्य होने के लिए सुव्यवस्थित रीति से उसका अभ्यास होना चाहिए। उस विचार के पीछे जो तत्त्वज्ञान है वह हृदय पर अंकित होना चाहिए, केवल विशिष्ट आचार रख कर काम नहीं चलेगा। उसको मजबूत नींव की जरूरत है। हमें कुछ तात्कालिक काम नहीं करना है, बल्कि दुनिया में जो विचार-प्रवाह आज जारी है तद्विरोधी विचार-प्रणाली कायम करनी है। उसके लिए उत्तम तत्त्वज्ञान की नींव उस विचार-प्रणाली को चाहिए। हमारा विचार तत्त्वज्ञानपूर्वक नहीं होगा तो हमारी ही वृत्ति डांवाडोल रहेगी । इस सम्बन्ध में साम्यवादियों की दृष्टि मुझे ठीक लगती है। वे तत्त्वज्ञान का अभ्यास करते हैं और तत्पूरक अपने विचार सामने रखते हैं। हम भी तत्त्वज्ञान को बाद नहीं कर सकते ।

इस विषय में हमारे यहांका उदाहरण देना हो तो

शंकराचार्य का दे सकते हैं। उन्होंने तत्त्वज्ञान की मजबूत नींव डाली। जो आचार समाज को उन्होंने सिखाया उसके मूल में जो तत्त्वज्ञान था वह बुद्धिमत्ता से समाज के गले उतारा। वह तत्त्वज्ञान जिनको जंचे वे ही मेरा आचार ग्रहण करें ऐसा उन्होंने कहा। मेरी राय में उनकी यह बड़ी महत्ता थी। बिना तत्त्वज्ञान समझे लोग मेरे आचार का अमल करें ऐसी इच्छा उन्होंने नहीं रक्खी; इतना ही नहीं, बल्कि निष्ठापूर्वक यही कहते थे कि मेरा तत्त्वज्ञान जंचता हो तभी मेरा आचार ग्रहण करो, अन्यथा स्वतंत्र रीति से उस आचार की मुझे कोई जरूरत नहीं है। उनकी यह दृष्टि गहरी है। वैसी ही होनी चाहिए। इसकी तुलना में साम्यवादियों की दृष्टि उतनी गहरी नहीं है। अपने विचारों को यद्यपि उन्होंने तत्त्वज्ञान का आधार दिया है तो भी उनका आचार के बारे में बहुत आग्रह है।

लेकिन यह बात हमारे ध्यान में जितनी आनी चाहिए, उतनी अभी तक नहीं आई है। विशिष्ट आचार पर हमने जोर दिया, लेकिन उसके पीछे जो तत्त्वज्ञान था, उसका विचार नहीं किया। मैंने ऐसे भी लोग देखे हैं जो दस-दस साल गांधीजी के काम में जुटे रहे लेकिन खुद गांधीजी के विचारों तक का भी अभ्यास उन्होंने नहीं किया। और पूछें तो कहते थे, "उनका काम ही तो हम कर रहे हैं, फिर अध्ययन करके नया क्या मिलनेवाला है? हम जो कर रहे हैं, उसकी ही पुष्टि उस विचार में की है, यही न?" लेकिन इस बात का उन्होंने खयाल नहीं किया कि गांधीजी जिस तरह निरन्तर काम करते रहे, वैसे

निरन्तर विचार भी देते रहे। बिलकुल आखिर के दिन भी एक मसविदा लिखकर वह गये। वह क्या पागल थे इसलिए? वह विचारों का महत्त्व जानते थे। लेकिन हम सेवकों को विचारों के चिन्तन का महत्त्व महसूस नहीं हुआ। हम लोगों का यह हाल हो रहा है, यह ध्यान में आकर भी उस समय के धांधली के कार्य-क्रम के कारण उन्होंने उस तरफ ध्यान न दिया हो, यह भी संभव है।

वह कुछ भी हो, इसके आगे यह विचार उत्तम चिंतन के बगैर दुनिया में फैलेगा, ऐसी स्थिति परमेश्वर की कृपा से नहीं है। इसलिए मैं बार-बार कहता आया हूं कि खादी जल्दी आगे नहीं बढ़ रही है, इस कारण मुझे उत्साह आता है। खादी कोई चाय-जैसी चीज नहीं है कि लोगों को उसका चसका लगे और उसके प्रचार के लिए विचार की जरूरत न रहे। और विचार मान्य किये बगैर कोई खाहमखा खादी पहनता हो तो वह मेरी खादी नहीं है। तत्त्वज्ञानपूर्वक खादी का प्रचार हो तो वह मुझे चाहिए। इसलिए अध्ययन की इसके आगे बहुत जरूरत है। वैसी सब व्यवस्था यहां होनी चाहिए।

लेकिन इसके साथ-साथ एक दूसरी बात मुझे कहनी है। वह यह है कि यह विचार केवल तात्त्विक, निर्गुण या अव्यक्त चिंतन का नहीं है। यद्यपि नाम तत्त्वज्ञान-मंदिर है, फिर भी उसका पूर्ण अर्थ लेना चाहिए। यहां जैसे गोशाला और तेल-घानी चल रही है, वैसी कुछ सेवा और कर्मयोग यहां निरन्तर चलना चाहिए। तत्त्वज्ञान-मंदिर की बात तो क्या, मैं सामान्य मंदिरों से भी यह

अपेक्षा रखता हूं कि जिसमें किसीका विचार-भेद होने का कारण नहीं है ऐसी सर्वमान्य, निर्विवाद शुद्ध धर्मसेवा वहां चले। फिर तत्त्वज्ञान-मंदिर में तो वैसी सेवा चलनी ही चाहिए। तत्त्वज्ञान का अभ्यास और कर्मयोग मिलकर एक परिपूर्ण दर्शन यहां होना चाहिए।

३

यहां के तत्त्वज्ञान-मन्दिर से हम क्या अपेक्षाएं रख सकते हैं, इस पर गत दो दिनों से विचार हो रहा है।

एक अपेक्षा यह कि यहां से जीवन के तत्त्वज्ञान का अभ्यास और प्रचार हो सके। अगर नाम देना हो तो मैं समझता हूं, हम इसे सर्वोदय का तत्त्वज्ञान कह सकते हैं। "सत्याग्रह का तत्त्व-ज्ञान"—यह नाम भी शायद फब सकता है। लेकिन अगर कोई एक ही शब्द निश्चित करना हो तो सर्वोदय अधिक ठीक होगा। सत्याग्रह शब्द आचार-निष्ठ अधिक है। शब्द विचारसूचक होना चाहिए। सर्वोदय वैसा हो सकता है। सर्वोदय के स्वरूप के बारे में इस वक्त नहीं कहूंगा। उस सम्बन्ध में एक-दो बार पहले सूचित कर चुका हूं।

सर्वोदय का तत्त्वज्ञान कुल मिलाकर समन्वयात्मक है। यानी सारे विचारकों को एकत्र लाने की शक्ति सर्वोदय के विचार में है। हिन्दुस्तान की संस्कृति ही ऐसी है कि समन्वय उसके रोम-रोम में भिदा हुआ है। उसकी पूर्णता सर्वोदय के विचार से हो सकती है। सर्वोदय का वैसे किसीके साथ विरोध रहने का कारण नहीं, किन्तु उसका उन सबसे विरोध है जो यह मानते हैं कि सबका

उदय न हो, कुछ अल्पों का और विशिष्टों का ही हो, तथा यह मानते हैं कि कुछ जाति अथवा लोग श्रेष्ठ हैं और उन्हींके हाथों में सत्ता रहनी चाहिए। और यह विरोध ऐसा है कि किसी भी तरह मिट नहीं सकता; या तो यह रहे या वह, इतना विरोध दोनों में है। जिनकी कल्पनाएं जातिवाद की अथवा पांथिक राज्य की हैं, या जो किसी वर्ग-विशेष की ही उन्नति को प्रधान मानते हैं—फिर वह वर्ग बहुसंख्यक हो या अल्पसंख्यक—और जो औरों की पर्वाह नहीं करते, उनका वह विरोध करेगा। अगर वह विरोध नहीं करेगा तो फिर उसका प्रयोजन ही क्या रहा ? प्रकाश अगर अंधकार को विरोध नहीं करेगा तो वह खुद का ही उच्छेद कर लेगा। इसलिए इतना विरोध तो रहेगा ही। परन्तु बाकी सारे विचार-प्रवाह सर्वोदय में समा सकते हैं। उसके प्रकाशन की जिम्मेवारी यहां के लोगों पर है।

सर्वोदय-तत्त्वज्ञान का पोषक एक रचनात्मक कार्यक्रम भी गांधीजी ने चलाया है। आज के जमाने की आवश्यकता और हमेशा की आवश्यकता, दोनों को देखते हुए वह एक सुन्दर और परिपूर्ण कर्मयोग है। केवल तत्त्वज्ञान हवा में रहता है। केवल कर्मयोग ऊंचा नहीं उठता, जमीन से चिपका रहता है। इसलिए जहां तत्त्वज्ञानयुक्त-कर्मयोग और कर्मयोगयुक्त-तत्त्वज्ञान का यानी आचार और विचार दोनों का मेल है, वहां मानवता का दर्शन होता है। । ऐसी है यह मानवमूर्ति। पांव जमीन से सटे हुए और मस्तक गगनविहारी। इन दो चीजों के बिना यह जीवन पूर्ण नहीं

बन सकता। गांधीजी ने जो शिक्षण हमें दिया है, उसमें उन्होंने रचनात्मक कार्यक्रम स्पष्ट कर दिया है। इसलिए कार्यक्रम के या जीवन की रचना के बारे में संदेह नहीं रहता। आंखों के सामने साफ चीज खड़ी हो जाती है। आलस्यवश काम ही न करना हो तो और बात है। लेकिन काम स्पष्ट बताया ही नहीं गया है, ऐसी बात नहीं है। पहले यह कार्यक्रम गांधीजी ने छोटा-सा ही बताया था। फिर बढ़ाते-बढ़ाते उसकी अनेक शाखाएं कर दी गईं। पहले ही से सारी बातें नहीं कहीं। क्योंकि उनका स्वभाव ही ऐसा था कि जैसे-जैसे एक-एक वस्तु प्रयोग के बाद असल में आती जायगी, वैसे-वैसे समाज के सम्मुख उसे रक्खा जाय। केवल कल्पना से उसे नहीं रखना है। उदाहरणार्थ महारोगी-सेवा। यह बात उनके कार्यक्रम में देरी से प्राप्त हुई, क्योंकि हम पहले महारोगियों की प्रत्यक्ष सेवा नहीं करते थे। वर्धा में जब उस काम का प्रारम्भ हुआ तब रचनात्मक कार्यक्रम में उसका समावेश किया गया। कल्पना से ही कोई कार्यक्रम बनाना होता तो आज की दस-पन्द्रह बातों के बजाय सौ-दो सौ बताई जा सकती थीं। लेकिन उससे कोई लाभ न होता। उनका तरीका यह था कि देश के सामने वही कार्यक्रम रक्खा जाय जिस पर थोड़ा-बहुत अनुभव जरूर हुआ है। बाकी स्वतन्त्र रूप से जिसे जो कार्यक्रम करना हो, उसे वैसी आजादी और सुविधा थी ही। इसी वृत्ति से धीरे-धीरे वह अधिक विस्तृत कार्यक्रम देश के सामने रखते गये। अब वह व्यवस्थित रूप में हमारे सामने है। सर्वोदय-समाज द्वारा उस सबका अच्छा संकलन हुआ है।

इस तरह जब एक सुव्यवस्थित कर्मयोग सम्मुख होता है तो कार्यकर्त्ताओं को भी सांत्वना मिलती है। कार्यकर्त्ता से यह कहना कि "एक तत्त्वज्ञान तुझे दिया है, अब जैसा सूझे कर" गैरवाजिब नहीं है। लेकिन उससे उसको सांत्वना नहीं मिलती, स्पष्ट दिशा-दर्शन नहीं होता। अबतक सभीने बताया कि निष्काम कर्मयोग किया जाय। लेकिन इसका निर्णय नहीं हुआ कि वह कर्मयोग क्या और कैसा हो। पुराने लोग यज्ञयागादि को कर्म समझते थे। बीचवालों ने उसमें दान, धर्म, तपस्या आदि जोड़ कर स्पष्टीकरण किया कि कर्म यथावर्ण या यथाआश्रम किया जाय। हो सकता है कि उस जमाने में वे कर्म उपयोगी सिद्ध हुए हों। फिर भी जितनी स्पष्टता से यह कार्यक्रम रक्खा गया है उतनी स्पष्टता से वह नहीं रक्खा गया था। अगर कोई आग्रह करे कि पुराने जमाने के यज्ञयाग आज भी करने चाहिएं तो वह गलत होगा। कर्मयोग अद्यतन यानी आज की आवश्यकता के अनुरूप चाहिए। वह निष्काम और निरहंकार करना होता है। और निरहंकार तब हो सकता है जब वह चालू प्रवाह के अनुरूप हो। अगर यज्ञयाग का कर्मयोग आज समाज के सामने कोई रक्खेगा तो वह अट्टहासपूर्ण चालू प्रवाह से असंगत और इसलिए अहंकारमय होगा। कार्यक्रम आज की आवश्यकता के अनुरूप हो तो निष्काम और निरहंकार बुद्धि से उस पर अमल किया जा सकता है। मनुष्य कर्म निरहंकार बुद्धि से करता ही है, ऐसा नहीं है। वह तो उसकी जागृति पर निर्भर है। लेकिन करने की इच्छा हो तो ऐसे कर्मयोग में वह सुविधा रहती है।

और इस कार्यक्रम में वह सुविधा हुई है, इसलिए उसका दर्शन यहां होना चाहिए। दृष्टि यह रहनी चाहिए कि कुछ-न-कुछ कर्मयोग का यथाशक्ति आचरण यहां हो रहा है। यह हुई दूसरी जिम्मेदारी। इसका विवेचन कल के तथा परसों के व्याख्यान में किया गया है। आज उसीका अधिक स्पष्टीकरण किया।

लेकिन दोनों बातों से भी समग्र विचार नहीं होता। और भी एक महत्त्व की बात है जो इस विचार को परिपूर्ण करती है। और वह है जीवन-शुद्धि की साधना। अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह, अस्वाद, निर्भयता इत्यादि एकादश व्रत गांधीजी बता गये। इसे जीवन-शुद्धि की साधना, व्रतनिष्ठा अथवा चाहें तो सत्याग्रह-निष्ठा भी कह सकते हैं। अर्थ कुल मिलाकर ही है। जीवन किसी विशेष श्रद्धा पर खड़ा होना चाहिए। एक दिशा में बहने के कारण नदी का पानी फूटता नहीं और इसलिए उसमें से कारगर ताकत प्रगट होती है। जीवन-नदी भी इसी तरह निश्चित ध्येयानुसार बहती रहनी चाहिए। सारा विचार और सब-का-सब कर्मयोग विशिष्ट निष्ठा पर रचा जाना चाहिए। इसी-लिए इन ग्यारह व्रतों की योजना की गई है।

जीवन-शुद्धि के लिए व्रतों की आवश्यकता की कल्पना वैसे नई नहीं। लेकिन गांधीजी ने इसे जिस प्रकार निश्चयपूर्वक रक्खा, और किसीने रक्खा दीखता नहीं; क्योंकि पूर्वानुभव पास में रहता है तब आगे के लोगों को कुछ नया स्फुरण होता रहता है। उसके बीज उस पूर्वानुभव में रहते ही हैं। वे ही नये रूप में अंकुरित होते हैं। वही इस मामले में हुआ है। योगशास्त्र

भी मानता है कि योग-साधना के लिए अहिंसा, सत्य आदि यम नियमों का आधार चाहिए; परन्तु योगमार्गी समाज-सेवक नहीं कहलाये। समाज-सेवक के लिए यम-नियम-निष्ठा की कल्पना विशेष है। सब कल्पना का रहस्यभूत भाग उनमें आ जाता है। वरना अहिंसा, सत्य आदि चारित्र्य के परिपालन की बात तो भक्तिमार्ग में भी नारदादि ने बताई है। भक्तिमार्गियों में इस बारे में ढिलाई दीख पड़ती है। मैं उन्हें उसके लिए विशेष दोष नहीं देता, क्योंकि भक्तिमार्ग की मुख्य कल्पना है परमेश्वर की भक्ति से पावन होना और यद्यपि इसके इर्द-गिर्द वे चारित्र्य-बल आदि अवश्य मानते हैं; लेकिन वे श्रद्धा रखते हैं कि ईश्वरभक्ति से ये बातें सध जायंगी। यह श्रद्धा गलत है। भक्ति-मार्ग का स्वरूप ही ऐसा होना चाहिए कि जीवन उत्तरोत्तर शुद्ध करते जायं, अवगुणों को विवेकपूर्वक काटते जायं और सत्यनिष्ठा बढ़ाते जायं। यह सही है कि भक्ति के कारण यह निष्ठा बढ़ेगी। परन्तु भक्तिमार्गियों को इस बात का अहसास कम है कि गुण-विकास के लिए हृदय खुला रखने की आवश्यकता है। यह एक विशेष भक्तिमार्ग है जो गांधीजी ने बताया है। उससे भक्ति का स्पष्टीकरण होता है और गलतफ़हमी के लिए गुंजाइश नहीं रहती। मैं रोज़ प्रार्थना करता हूं, लेकिन अगर मेरे चित्त से द्वेष-भावना दूर नहीं होती तो मेरी भक्ति की कसौटी हो जाती है और सिद्ध हो जाता है कि इसमें हार्दिकता नहीं है। किंबहुना, यही प्रार्थनादि भक्ति के अंगों की आवश्यकता है। सही प्रार्थना तब होती है जब आत्मपरीक्षण द्वारा मैं महसूस करता हूं कि अहिंसादि

के परिपोष का निरन्तर प्रयत्न करते हुए भी अवगुण रोड़े अटकाते हैं, मेरे प्रयत्न असफल रहते हैं और सहायता के लिए मैं भगवान के चरणों में दौड़ जाता हूं। इसलिए अहिंसादि व्रतपालन के साथ-साथ नामस्मरण की आवश्यकता गांधीजी ने बताई। रामदास ने भी कहा—"आचरण को बदलकर भक्तिमार्ग का ही अनुसरण करो।" वही है यह। भक्तिमार्ग को इससे दृढ़ता मिलती है। जीवन-शुद्धि की यह साधना हमारे आचरण में होनी चाहिए। यह तीसरी जिम्मेवारी।

सर्वोदयकारी हमारा तत्त्वज्ञान, रचनात्मक कार्यक्रम हमारा कर्मयोग और नामस्मरण से तथा परमेश्वर की सहायता लेकर अहिंसादि व्रतों का आचरण हमारा भक्तिमार्ग, ऐसा है यह जीवन का त्रिविध सम्यक् दर्शन, जिससे पावन होनेवाली है दुनिया। उस सारी दुनिया का मध्यबिंदु हैं मैं और मेरा जीवन। इसलिए मुझे फिक्र रखनी चाहिए कि मुझमें ये तीनों बातें हर रोज स्थिर होती जायं।

गांधी-तत्त्वज्ञान-मन्दिर, धुलिया

११–१२–१२–१९४९

: १२ :

विश्वमंगल का ध्येय

आपके इस जिले में मैं कई जगह जाकर आया हूं। वेलूर और अजंता की गुफाएं देखकर आया, यह कहने की जरूरत ही नहीं है, क्योंकि दुनिया-भर के जितने भी प्रवासी हिन्दुस्तान में आते हैं, वे इन गुफाओं का दर्शन किये बगैर नहीं जाते और हिन्दुस्तान की धर्मभावना की साख अपने साथ लेकर वे जाते हैं। लेकिन जितनी कुशलता और धर्मनिष्ठा इन दो गुफाओं ने प्रकट की है, उतनी ही कुशलता और धर्मनिष्ठा प्रकट करनेवाली ऐसी ही दूसरी कलाकृतियां आपके इस जिले के दो महापुरुषों ने निर्माण की हैं। उनके जन्मस्थान भी मैं देख आया हूं। मेरा लक्ष्य इस समय ज्ञानदेव और एकनाथ की तरफ है, यह आपके ध्यान में आया ही होगा। इन्होंने जो कलाकृतियां निर्माण की हैं, वे मेरी दृष्टि से अनमोल हैं और अगर मुझे भगवान ने चुनाव ही करने को कहा कि तू पत्थरों में खुदी हुई इन कलाकृतियों को लेने को तैयार होगा या ज्ञानदेव और एकनाथ की अत्यन्त कलापूर्वक तैयार की हुई कलाकृतियों को, और दोनों में से कोई एक ही तुझे मिलेगी, तो मैं निःशंक होकर ज्ञानदेव और एकनाथ

की अत्यन्त कला-पूर्वक तैयार की हुई, सबको ज्वलंत और जिन्दा निष्ठा सिखानेवाली उनकी वाङ्मयात्मक कलाकृतियों को ही पसन्द करूंगा। ज्ञानदेव और एकनाथ दोनों उन गुफाओं को देख आये थे, क्योंकि वे इसी प्रदेश में रहनेवाले थे और ज्ञानदेव ने तो उसका जिक्र भी किया है।

"ज्ञानदेवें केलें गीते देशीकार लेणें" कारीगरों ने जिस प्रकार गुफाओं में कलाकृति निर्माण की है, वैसे ज्ञानदेव कहता है कि मैंने भी गीता में से एक कलाकृति निर्माण की है और एकनाथ ने भागवत में से एक कलाकृति निर्माण की है। मेरी अपने लोगों से प्रार्थना है कि वे इन दोनों कलाकृतियों का बारीकी से अभ्यास करें।

ज्ञानेश्वरी और भागवत दोनों अनुपम ग्रन्थ है और वे जिन्दा धर्म का उपदेश करते हैं, सारे भेदों से पार हमको ले जाते हैं, जीवन को हमेशा मार्गदर्शन करते हैं और व्यक्ति और समाज का कर्तव्य सिखाते हैं। एक मुसलमान भाई की एकनाथ के बारे में लिखी हुई पुस्तक हाल ही में मुझे मिली है। मैं उसको अभी पूरी तरह पढ़ नहीं पाया हूं, लेकिन सरसरी निगाह से देख गया हूं। उस भाई को एकनाथ की लिखी हुई चीज इस्लाम की शिक्षा को अच्छी तरह मजबूत बनानेवाली मालूम हुई। दर असल बात ऐसी है कि ज्ञानदेव और एकनाथ की लिखावट में कहीं भी संकुचित भाव नहीं हैं। सारे मानव-समाज का हित ध्यान में रखकर ही उन्होंने लिखा है। इसलिए मेरी तो सिफारिश है कि हमारे यहां के मुसलमान भाई भी श्रद्धा से, प्रेम से

और विश्वास से उनके ग्रंथों का अभ्यास करें। उनका कुछ भी नुकसान होनेवाला नहीं है। उलटे उनकी धर्मनिष्ठा बढ़ेगी, परस्पर सद्भाव पैदा होगा और जीवन का अधिक स्पष्ट दर्शन उनको होगा, ऐसा मैं यकीन दिला सकता हूं। ज्ञानदेव ने तो लिखा ही है कि लिखने का या बोलने का ढंग ऐसा ही होना चाहिए जिससे कि एक को लक्ष्य करके कहते हुए भी सबके हित का वह हो —"एका बोलिलें होय सर्वां हि हित।" यानी वह कथन सर्वोपयोगी हो, सर्वोदयकारी हो। भगवान कृष्ण ने अर्जुन के निमित्त तो कहा, लेकिन सारी दुनिया को भी लाभ होगा इस प्रकार का उनका उपदेश था। वही भूमिका ज्ञानदेव और एकनाथ की है और आज की हिन्दुस्तान की जरूरत भी वही है।

सर्वोदय से किसी प्रकार भी हलकी चीज हिंदुस्तान को बरदाश्त नहीं होगी। अनेक प्रकार की जो तुच्छ उपाधियां चित्त से लगी हुई हैं उन सबको दूर करके अपना परिशुद्ध स्वरूप ही पहचानना और मैं व्यापक आत्मा हूं, इस तरह की अनुभूति नित्य निरन्तर चित्तमें रखना, यही एक चीज आज हिंदुस्तान को चाहिए। भगवान् ने हिंदुस्तान को एक संकुचित राष्ट्र नहीं बनाया है, बल्कि एक खण्डप्राय या राष्ट्रसमूहप्राय महान् देश बनाया है। ऐसे देश के लोगों को छोटे-छोटे अहंकार रखना कभी लाभप्रद नहीं होगा। मैं मराठी, मैं बंगाली, मैं गुजराती, इस तरह की भावना मारक होगी, तारक नहीं होगी। मैं हिन्दू, मैं मुसलमान, मैं क्रिस्ती, इस तरह की भावना ऐक्य पैदा करने

वाली नहीं, वल्कि विरोध पैदा करनेवाली होगी। जाति का, भाषा का, या पंथ का अभिमान जिसको कहते हैं, वह अभिमान रखकर हिन्दुस्तान का हित होनेवाला नहीं है, ऐसी ही हिन्दुस्तान की रचना भगवान् ने की है। इतना ही नहीं, वल्कि 'मैं भारतीय हूं' यह अभिमान भी हिंदुस्तान के कल्याण का नहीं होगा। देश पर, प्रांत पर, भाषा पर, धर्म पर प्रेम रहे, लेकिन अभिमान न रहे। भारतीयत्व का भी अगर अभिमान हम रक्खेंगे तो वह दुनिया के आज के प्रवाह के खिलाफ होगा और दुनिया में विसंवाद पैदा करेगा। उसमें से श्रेय नहीं होगा। हिन्दुस्तान का श्रेय नहीं होगा और दुनिया का भी कल्याण नहीं होगा। हिंदुस्तान से तो दुनिया यही अपेक्षा रखती है कि सारी दुनिया में जब विरोध निर्माण होगा तब उसमें से समन्वय पैदा करने का काम हिंदुस्तान करे। और हिंदुस्तान वह करेगा, इस आशा से दुनिया हिंदुस्तान की तरफ देखती है। यह बात एशियन कान्फ्रेन्स जैसी घटना से आपके ध्यान में आई ही होगी। स्वराज्य-प्राप्ति के बाद हिंदुस्तान में जो दुर्दैवी घटनाएं हुई, उनसे यद्यपि हिंदुस्तान की इज्जत घटी है, फिर भी वह तात्कालिक हवा थी। आई और गई, और आखिर हिंदुस्तान की जिस विशुद्ध आत्मा का नेतृत्व कहने की अपेक्षा प्रतिनिधित्व गांधीजी ने किया, उससे दुनिया को एक आशा बंधी है। दुनिया की वह आशा अगर हम पूरी नहीं करेंगे तो उसमें से निर्माण होने वाली निराशा हमारे ऊपर हमला किये बगैर नहीं रहेगी। इसलिए हमारे इस देश में ऐक्य बना रहे, इस ख्याल से अगर

म भरतखण्ड का भी अभिमान रक्खेंगे तो वह लाभदायी नहीं ोगा। इसलिए आखिर देश की हम सेवा करें, देश पर प्रेम क्खें, लेकिन अभिमान छोड़ें। और हम मानव हैं, यही महसूस करें।

इतना नहीं, बल्कि ज्ञानदेव ने अर्जुन का नाम लेकर हमारा शुद्ध स्वरूप समझाते हुए यहां तक कह दिया है कि "मैं अर्जुन हूं,' यह अर्जुनत्व भी छोड़ दे और फिर जो शुद्ध अहम् बचेगा, वही तेरा रूप है।" वही बोध हम सब सीखें। व्यापक, विराट्, स्वच्छ और स्वतंत्र होकर सेवा करते रहो। जो सेवा करोगे, वह एक छोटे गांव की होगी तो भी चलेगा, एक छोटे कुटुम्ब की होगी तो भी चलेगा, एक सामान्य रोगी की होगी तो भी चलेगा या मां जैसे अपने लड़के की सेवा करती है, वैसे एक लड़के की होगी, तो भी चलेगा। लेकिन वह लड़का, वह रोगी, वह गांव, जिसकी भी सेवा होगी, वह सारे विश्व का प्रतिनिधि है, इस भूमिका से सेवा होनी चाहिए। और मैं सर्व-सेवक हूं, सारे विश्व का सेवक हूं, इतना ही नहीं, बल्कि मैं परमेश्वर का सेवक हूं, मैं हरिदास हूं, मैं हरिसेवक हूं—इस भूमिका से सारी सेवा होने दो। फिर तुम्हारा और तुम्हारे देश का देखते-देखते उत्थान होगा और वह उत्थान दूसरे सब लोगों के उत्थान को मदद पहुंचानेवाला होगा।

जब कोई अभिमानी संघटना पैदा होती है तब वह हिंसक शक्ति को आह्वान करती है। और हिंसक शक्ति जब किसी राष्ट्र में खड़ी होती है तब वैसी ही दूसरी हिंसक शक्ति अन्यत्र निर्माण

होती है। और इस प्रकार अनेक हिंसक या अभिमानी संघटनाएं दुनिया में अगर पैदा होती हैं तो शक्ति का जोड़ नहीं बल्कि शक्ति का ह्रास होता है। हिंदुस्तान में अगर एक दस सेर की अभिमानी और हिंसक संघटना निर्माण हुई और वैसी ही आठ सेर की एक अभिमानी और हिंसक संघटना मान लीजिए कि चीन में निर्माण हुई तो सारी दुनिया में दस और आठ मिलाकर अठारह सेर शक्ति निर्माण नहीं होती, बल्कि १०—८=२, दो सेर शक्ति हो जाती है। इस तरह हिंसक और अभिमानी संघटनाएं एक दूसरी का क्षय करती हैं, एक दूसरी की पुष्टि नहीं करतीं। जो संघटनाएं अभिमान पर खड़ी होती हैं, वे कुल मिला कर दुनिया का शक्ति-क्षय करती हैं! दुनिया को उन्नत नहीं करतीं। दुनिया को बेचैन करती हैं, बेहाल करती हैं। इसके विपरीत अभिमान-रहित, प्रेमाधिष्ठित, निरहंकार, अहिंसक और व्यापक संघटना जब किसी देश में निर्माण होती है तब अपने-जैसी दूसरी संघटना को प्रेरणा देती है। और वे दो या तीन या जितनी भी होंगी, सब मिलाकर दुनिया की शक्ति को बढ़ाती हैं, उनसे शक्ति-संवर्धन होता है। शक्तिवर्धनकारी संघटना अगर निर्माण करनी है तो ज्ञानदेव कहते हैं 'मैं अर्जुन' यह मिट जाना चाहिए। मेरा अर्जुनत्व छोड़कर जो परिशुद्ध 'मैं' अंदर उठता है उस 'मैं' का अनुभव लेना चाहिए, और जिसकी मैं सेवा करता हूं, उसका 'तू' छोड़कर, उसकी सारी उपाधियों को (अधिकारों को) छोड़कर, वह भी विश्व का एक प्रतिनिधि है, इस कल्पना से सेवा होनी चाहिए।